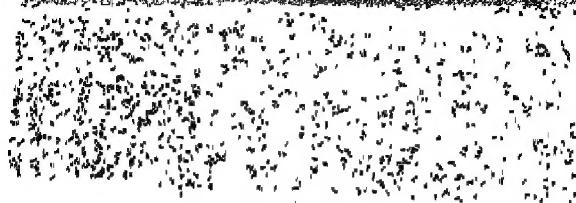





हिन्दुस्तानी [illegible] फंड की परामर्श दात्री समिति के विचारार्थ पुरस्कार के निमित्त.

२

लेखक का स्थायी पता :-

श्री कन्हैयालालजी मिश्र "प्रभाकर"

विकास लिमिटेड,

सहारनपुर,

विषय – निबन्ध

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क ५७

बाजे पायलियाके घुँघरू

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'



भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०


प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस



प्रथम संस्करण
१९५७ ई०
मूल्य चार रुपया



मुद्रक
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

कौन कहाँ ?



यह क्या पढ़ रहे हैं आप ?

एक बार मैं गांधीजीके निकट बैठा था और बातचीत प्रार्थनापर चल रही थी। वे बोले—प्रार्थनाका एक चमत्कार यह है कि हमारे सामने जब विकट समस्याएं होती हैं और हमारी शक्तियां उन्हें सुलझानेमें अपनेको असमर्थ पाती हैं, हम सरल भावसे प्रार्थना करें, तो परिस्थितियोंमें बिना किसी प्रयत्नके ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि वे समस्याएं आप ही आप सुलझ जाती हैं।

मैंने नम्रतासे पूछा—बापू, बिना किसी प्रयत्नके इस परिवर्तनका रहस्य क्या है ?

बापूने कहा—यह बात एक और एक दोकी भाषामें नहीं कही जा सकती, पर सत्य है। अपनी भाषामें मैं इसे ईश्वरकी कृपा मानता हूं, पर मनोवैज्ञानिक रूपमें भी इसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

x

नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण परमहंसके निकट गये, तो नास्तिक थे, पर लौटे, तो आस्तिक होकर।

मैं अनेक बार अशान्तिके क्षणोंमें लहलहाते खेतोंपर गया हूं और वहांसे उत्फुल्ल होकर लौटा हूं।

यह सब क्या है ?

यह सब शुभ सम्पर्ककी शक्ति है।

अत्यन्त नम्रताके साथ मैं कहना चाहता हूं कि इन लेखोंमें वही शुभ सम्पर्क है जो अशान्तिमें शान्ति, नीरसतामें सरसता और निराशामें आशाके भाव देकर मनको बिना किसी प्रयत्नके यों बदल देता है कि जीवन अपने आप पहलेसे अच्छा और आनन्दपूर्ण हो जाता है।

एक ही बात हमें दो आदमी कहते हैं, पर एककी बातका हमपर कोई असर नहीं होता और दूसरेकी बातका हमें तुरन्त विश्वास हो जाता है। यह क्यों ?

यह इसलिए कि एक कहता है बुद्धिसे और दूसरा हृदयसे। बुद्धि है अविश्वासी, अनिश्चयात्मक और तार्किक, इसलिए बुद्धिकी बात बुद्धिमें नहीं उतरती, देरमें उतरती है और उतरकर भी यों नहीं पचती कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे, पर हृदय है विश्वासी और सरल, इसलिए हृदयकी बात हृदयमें झट उतर जाती है और यों पच जाती है कि रस बनकर जीवनको सौन्दर्य दे।

इन लेखोंमें न बुद्धिके गोरखधन्धे हैं, न सूखे ज्ञानके अम्बार, मगर हृदयकी जिज्ञासाएँ हैं, चिन्तन है, अध्ययन है, प्रयत्न है, समाधान है, सफलताएँ हैं, अनुभव हैं।

इसीलिए वे पाठकको बहसमें निरुत्तर नहीं करते, मनमें शान्त करते हैं, उसके ज्ञानको झकझोरते नहीं, जीवनको बदलते हैं और यह सब भी दण्ड या कड़ाईसे नहीं, मिठाससे मित्रकी तरह—सच तो यों कि पता नहीं चलता और जीवनमें परिवर्तन हो जाता है, वह ऊँचा उठ जाता है, जीवनकी पायलियाके घुँघरू बज उठते हैं, उसमें सात्त्विक आनन्द भर जाता है !

बस यही ये लेख इस तरहके दूसरे लेखोंसे भिन्न हैं।

इसी शृंखलाके कुछ लेख 'जिन्दगी मुसकराई'में छपे थे और कुछ ये हैं। इनमें मेरी चौथाई शताब्दीकी जीवन-साधना है और यह मेरा अभिमान नहीं, संतोष है कि देशकी उठ-उभरती पीढ़ियोंको मैं यह उपहार दे सका।

विकास, सहारनपुर ◆ कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'



उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथोंमें

- मैं गाँधी-जवाहरलालकी जिस पीढ़ीमें जन्मा, पला, बड़ा हुआ और जिया, वह भारतकी स्वतन्त्रताके सिपाहियोंकी पीढ़ी थी।
- इस पीढ़ीकी जवानी लाठी चार्जोंकी धमाधम, गोलीकाण्डोंकी धायँ-धायँ और हथकड़ी-बेड़ियोंकी छनाछनमें बीती और बुढ़ापा बीत रहा है भावी पीढ़ियोंके लिए सुख-साधन सँजोनेमें।
- क्या ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं?
- ना, मैं नहीं मानता यह। ये दोनों कार्य एक ही जीवनकी परिपूर्णताके तत्त्व-सत्त्व हैं, पर मैं मानता हूँ कि सामाजिक वैभवकी परिपूर्णता होते भी जीवनकी परिपूर्णता अपूर्ण है, यदि मानसिक परिपूर्णता न हो।
- मेरा विश्वास है कि उग-उभरती पीढ़ियोंकी मानसिक पूर्णताके लिए ये लेख अमोल रसायन हैं; तो अपने पूरे जीवनकी यह कमाई मैं अपनी उग-उभरती पीढ़ियोंके हाथों आनन्द और शुभ कामनाओंके साथ समर्पित करता हूँ, क्योंकि अपनी मृत्युके बाद मैं उन्हींमें तो जीवनका आनन्द भोगूँगा।'

क० ला० 'प्रभाकर'

यह किसका सिनेमा है ?

[१]

लम्बी बीमारीसे उठकर अपने ही नगरकी नहरपर उस दिन गया, तो लगा जैसे मेरा पुनर्जन्म हुआ है। चारों ओर अजीब-सा लगता था।

रास्तेमें देखा एक नया सिनेमा-घर बन रहा है। जिस मित्रकी मोटरमें घूमने गया था, उनसे ही पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है भाई ?"

बोले—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

"रण्डीका ?" मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा—"फिर तुमसे अच्छी तो यह रण्डी ही रही कि कमाईसे इतना बड़ा सिनेमा बना लिया। तुम्हारी तो दूकान भी अभीतक किरायेकी है।"

वे भी हँस पड़े, बात पूरी, पर पूरी होकर भी इसने मेरे मनमें जिज्ञासा-का एक जाल-सा पूर दिया। एक रण्डीने इस नगरमें इतना रुपया कमा लिया कि खा-पीकर वह इतना रुपया जोड़ सकी कि लाख रुपये लगाकर यह बिल्डिंग बना-खड़ी की। कुछ न कुछ तो पास भी बचा रक्खा होगा और १॥ लाख जिसके पास है, उसने खाने-पीनेमें भी ३ लाख खर्चे ही होंगे, तो एक रण्डीने ५ लाख रुपये कमाये। इन ५ लाखके पीछे कितने उजड़े और उदास घरोंकी कहानियाँ कसक रही हैं, इसे कौन जान सकता है ? और यह रण्डी, जो स्वयं सबसे बड़ी कसक-कहानी है इस समाज-व्यवस्थाकी !!

[२]

कुछ दिन बाद मैं स्वास्थ्य-सुधारके लिए पहाड़ चला गया। वहीं एक दिन एक बेंचपर बैठा, मैं सामनेका पहाड़ देख रहा था कि पासकी

बेंचपर एक सज्जन आकर बैठ गये और कोई पुस्तक पढ़ने लगे---एकदम गभीर और डूबे हुए।

तभी उधर आ निकले एक और सज्जन---कोट-बूट-धारी और उन पढन्तू मित्रके पास पहुँचते-न-पहुँचते बोले---"मैं तो तुम्हारे कमरेपर गया था। नौकरसे मालूम हुआ कि तुम इधर घूमने गये हो। मैंने सोचा---चलो, उधर ही चलूँ, कही न कही मुलाकात हो ही जायगी ?"

दूर बैठे ही बैठे मैंने महसूस किया कि उन्हे इनका यहाँ आना अच्छा नही लगा। तभी उड़ती-उखड़ती-सी आवाजमे वे बोले---"हाँ, मै इधर चला आया था।"

मनमे सोचा---इस 'हाँ' का अर्थ है कि बडी बेवकूफी की, जो नौकरको अपना पता दे आया कि भूतकी तरह आप मेरे पीछे यही आ धमके। मुझे लगा कि ये आनेवाले सज्जन, इनसे कोई ऐसी बात चाहते है, जिन्हे यह पसद नही करते।

बेंचपर बैठते-बैठते उन्होंने कहा---"तो फिर क्या सोचा तुमने अपनी पालिसीके बारेमें ? और सोचना क्या है, लो, फार्म भर दो।"

अरे, यह तो बीमा कम्पनीका एजेण्ट है। बीमा-एजेण्ट, अपने समयका ऐसा आदमी जिसे कोई पसद नही करता, पर जो बिना बुलाये भी किसीके घर जानेमे नही झिझकता !

[३]

स्वस्थ होकर पहाडसे लौट आया, तो एक दिन मेरे एक परिचित किसी अपरिचितको साथ लिये आये और बोले---"ये मेरे मित्र हैं भाई साहब, और आपकी मदद चाहते हैं।" ये सज्जन होंगे कोई ५० वर्षके। चेहरेपर सौम्यता, तो गलेमें मिठास। बोले---"बनता-बनता मेरा सिनेमा रुक गया है। आप जाने, ये परमिट-कन्ट्रोलके दिन हैं---बिना सिफारिश कोई बात

नहीं करता, पर बरसात ऊपरसे आ रही है, अब छत न पड़ी तो सारी लागत पानीमें बह जायगी और हम कहींके न रहेंगे। आप टी. आर. ओ.से कहकर हमें थोड़ा-सा लोहा और सीमेण्ट दिला दें, तो हमारा काम बन जाय।"

मैंने कोशिश करनेकी बात कही और पूछा—"कौन-सा सिनेमा बना रहे हैं आप?"

बोले—"नहरकी सड़कपर बना रहा हूँ। बस छत पड़ी कि तैयार हुआ। तब दिखाऊँगा आपको।"

सुनकर मुझे याद आगई, अपने मित्रकी बात—"यह रण्डीका सिनेमा है।"

टटोलते-से पूछा—"पर सुना था, वह सिनेमा तो कोई बहन बना रही है?"

"जी हाँ!" वे खुश होकर बोले—"वो मेरी बीवी है। मैं तो एक गरीब आदमी हूँ, पर उनके पास थोड़ी-सी जमा-पूँजी है। वही उसे बना रही है।"

वे चले गये और मुझे उलझा गये। मैं सोचता रहा—मित्र कहते हैं, यह रण्डीका सिनेमा है, ये हजरत कहते हैं सिनेमा मेरी बीबी बना रही है!!

मैं उठकर सिनेमाकी ओर गया। म्युनिसिपैलिटीका भंगी झाड़ू लगा रहा था, उससे पूछा—"यह किसका सिनेमा बन रहा है चौधरी साहब?" बोला—"यह रण्डीका सिनेमा है बाबूजी!"

तभी उधरसे निकले म्युनिसिपल बोर्डके एक मेम्बर। मैंने कहा—"आपके वार्डमें तो यह बहुत शानदार सिनेमा बन रहा है—आप ही बना रहे हैं क्या?"

बोले—"नहीं जी, यह तो किसी रण्डीने बनाया है। हम क्या बनायेंगे सिनेमा, गुजर ही मुश्किलसे हो रही है!"

मैं लौट आया। अजीब बात है कि भगी और मेम्बर साहब, दोनों कहते है, यह किसी रण्डीका सिनेमा है और वे साहब फर्माते है कि मेरी बीबी यह सिनेमा बना रही है। क्या सारा समाज झूठा है और बस वे ही सच्चे है ?

[४]

तीसरे दिन अपनी दरख्वास्त लिये वे आ पहुँचे। मैं रण्डी और बीबीके झमेलेमें उलझा था—हम बातोंमें ढल गये और जो कुछ हाथ आया, यह है—

मा और बेटी। मा ढलती हुई, तो बेटी उभरती हुई, जिसकी उम्र नई, रूप नया, नाम नया, हर बात नई और ये अभी-अभी बापको दफनाकर लिमटे एक नौजवान, जिनकी उम्र नई, रूप नया, चाव नये, हर बात नई और बापकी कमाई दौलत पास! वे दोनों वेश्याएँ, यह आजाद रईस। उधर एक महा घाघ, तो दूसरी बछेरी—एकका इशारा, तो दूसरीका उस्तरा और इधर वह अलमस्त छैला, जो पिये गया और दिये गया। बस ५, ७ बरसोंमे ही ऐसी हजामत बनी कि पासमें इकन्नी नहीं, पर दिलमें अरमानोंके अभी अम्बार।

इनके लिए वह घडी नजदीक, जब उस्तादजी सारगीके गजसे पीटकर, धकियाते हुए जीनेसे नीचे उतार दे और दरवाजा इतने जोरसे बंद करे कि उसके फिर खुलनेकी उम्मीदका तार ही टूट जाये, पर घाघ माके सामने यह सूरजकी तरह साफ कि खूंटा ही बछेरीसे नहीं, उसकी बछेरी भी खूंटेमे उलझी हुई है।

वेश्या होकर भी वह मा और मा समझदार, जो अपने पेशेके कोढ़को

पूरी तरह भोग चुकी। उसने दोनोको टिटकारियाँ दी, टकोरा-झकोरा, स्याह-सफेद दिखाया और एक दिन मजबूत गाँठमे स्वय बाँध दिया। मा एक दिन दुनियासे उठ गई और जन्नत पहुँची, तो जिन्दगीके रजिस्टरमे उसने देखा, इस गाँठमे उसके सब गुनाह बँध गये थे!

और ये दोनों? इनके लिए तो अब घर ही स्वर्ग था—इनकी जन्नत आसमानमे नही, धरतीपर, इन्हीके आँगनमे थी।

धन इनके पास तब रहा नही था, कुछ रूपके भी ये लच्छे न थे, फिर इनमे वह क्या था, जो एक चमकती परीको पत्नी बना पाया? प्रश्न उठा, पर प्रश्न ही रहा और वे उठकर चले गये। मै सोचता रहा—एक वेश्याने उस पुरुषको अपने जीवनकी बागडोर पकडा दी, जिसके पास कुछ न रहा था, जो उसके ही द्वारा लुट चुका था; क्या यह दया है? या यह आत्म-समर्पण है, पुरुषके सर्वस्व समर्पणके बदलेमे किया गया, नारीका आत्म-समर्पण?

[५]

सिनेमा बन गया और उसमे तस्वीरे दिखाई जाने लगी। एक दिन परिवार सहित मै भी निमन्त्रित था। समयपर हम पहुँचे, तो वे ही सज्जन हमें खडे मिले। बौक्समे हमे बैठाकर वे चले आये और थोड़ी देरमे एक स्त्रीके साथ लौटे।

परिचयकी भाषा यह थी—"लीजिए, ये भी आगई आपके साथ सिनेमा देखने—इन्होने ही आपको आज यहाँ तशरीफ लानेकी दावत भिजवाई थी।" वे उन्हें बैठाकर चले गये। मैने समझा उन्हे कोई जरूरी काम होगा, पर वे थोड़ी देर बाद आये—पत्नीकी गरम चादर साथ थी, हमारे लिए पान। पान हमने खाये। वे बोली—मुझे तो अपने ही हाथका पान अच्छा लगता है। सुनते ही वे फिर चले गये और उनके पानोंकी डिबिया उन्हे दे गये।

'इण्टरवैल' परदेपर और वे दरवाजेपर, चायवाला साथ। हमने चाय पी, पान खाये। वे उस गरम चादरको पत्नीके कन्धोंपर डाल, फिर चले गये और खेल खत्म हुआ कि वे फिर दरवाजेपर—पान साथ!

चान्दनेमें दोनोंको एक साथ ग़ौरसे देखा। नारीमें सरलता भी है, बड़प्पन भी। उसकी मुसकानमें आकर्षण है, जो बेधक न होकर मोहक है। बातचीतमें वे खुली हैं, पर इस खुलेपनमें कहीं भी हल्कापन नहीं, शालीनता ही है। मैंने उन्हें बड़ी बहन कहा, तो पूरे मनसे ही कहा। पुरुषमें सौम्यता है। वे धीमे बोलते हैं, पर पूरी मिठासके साथ। उनकी हर बातमें एक संयम है।

वे चले गये, मैं अपने प्रश्नोंका उत्तर पा गया। एक वेश्या: उसके पास जो आता है, वही अपनी बात मनवानेके लिए। ठीक है, वह पैसा फेंकता ही इसलिए है कि उसकी हर इच्छाको हाँ सुनाई दे। पैसेकी शक्तिके सामने सिर झुकानेकी शिक्षा वेश्याको दी जाती है, वह सिर झुकाती है, पर उसके हृदयकी प्यास उससे पूछती है—"क्या इस संसारमें ऐसा कोई नहीं, जो मेरी इच्छाके सामने भी सर झुकाये? अपने सामने मेरी इच्छाको महत्त्व दे?"

इस पुरुषमें यह गुण है कि अपनेको भूलकर, दूसरेका ध्यान रक्खे और यही वह रसायन है, जिसने वेश्याको पत्नी बना दिया।

[६]

यों मेरे सब प्रश्नोंका समाधान हो गया, पर तभी एक नये प्रश्नने मुझे आ घेरा—गिरना आसान है, गिरकर उठना कठिन, यह नारी गिरी, गिरनेकी हदतक गिरी और उठ गई—उठनेके ऊँचे-से-ऊँचे शिखरतक।

एक स्वस्थ दर्शकके मनमें गिरावटके लिए दया और उठावके लिए प्रशंसाकी भावना उठनी चाहिए, पर यह क्या बात है कि वेश्याके गृहिणी

बननेपर भी हमारे समाजका एक शिक्षित व्यापारी और अशिक्षित भंगी बरसों बीत जानेपर भी उसके गृहिणीपनको स्वीकार नहीं करता और वेश्या-पनको भूलता नहीं; जब कि वेश्यापन पहला और गृहिणीपन बादका है—पहला पाठ कण्ठ और बादका पाठ चूँ-चाँ, यह कैसी स्मृति है, हमारे समाजकी !?

और तभी याद आगये मुझे उस पहाड़ी बेंचपर बैठे बातें करते वे दोनों परिचित, जिनमें एक बीमा एजेण्ट। बीमा-एजेण्ट: जिसे हमारे देशमें अभी कोई पसंद नहीं करता।

और यहीं मनमें फूट-पनपा एक नया प्रश्न—भला क्यों ?

बीमा-एजेण्ट हमारा बीमा करता है, तो उसमें हमारा ही लाभ है। हमें बुढ़ापेमें इकट्ठा रुपया मिल जाता है, जो वैसे हम जमा न कर पाते। वह हमें बुढ़ापेकी बेफ़िक्री देता है और मौत बेवक्त आ निकले, तो बाल-बच्चोंको बचाता है। बीमामें हमारा, हमारे परिवारका, हमारे देशका, लाभ ही लाभ है, फिर बीमा करनेवाला हमें क्यों अच्छा नहीं लगता ?

—क्योंकि हमारी आँखें देखती हैं कि इस बीमामें उसे लाभ है और हमारा दिमाग़ सोचता है कि वह उस लाभके लिए ही हमारे पास आया है, तो फिर वही वेश्यावाली बात कि उसका गृहिणी बनना हमारे दिल-दिमाग-को नहीं छू पाता और उसका वेश्या रूप ही हमपर छाया रहता है।

लोक-कथामें कहा गया है कि दयासे द्रवित हो, नारद मुनिने कुबड़ी बुढ़ियासे कहा—"आ बुढ़िया, तेरा कूबड़ अच्छा कर दूँ।"

बुढ़ियाने कहा—"बाबा, दयालु हुए हो, तो मेरा कूबड़ रहने दो, मेरे पड़ौसियोंकी कमरमें कूबड़ हो जानेका वरदान दो।"

अब बाबा भौंचक ! बोले—"उनकी कमरमें कूबड़ होनेसे तुझे भला क्या फ़ायदा ? तेरी कमर तो झुकी-की-झुकी ही रही ?"

बुढ़िया तमककर बोली—"अरे बाबा, मैं भी एक बार देख लूँ कि ये मुझे किस तरह देखते हैं!"

यही दोष-दर्शनकी वृत्ति सारे समाजपर छाई है कि हमें अपने लाभ-से ज्यादा दूसरेकी हानिकी और दूसरेके गुणोंकी अपेक्षा उसके दोषोंकी ही अधिक चिन्ता है। मक्खी नूरजहाँके सुरभित शरीरमें भी चोटकी चेहट ही तो खोजती है?

एक दूसरी लोक-कथामें कहा है— दयालु हो, कीचड़में पड़े शूकरसे नारदने कहा—"चल, तुझे स्वर्ग ले चलूँ!"

शूकरने कहा—"क्या है तुम्हारे स्वर्गमें बाबा?"

"स्वर्गमें? अरे मूर्ख, स्वर्गमें सब कुछ है। खानेको बत्तीस भोग, छत्तीसों व्यंजन, देखनेको नृत्य, सुननेको संगीत, सेवाको अप्सराएँ—क्या नहीं है हमारे स्वर्गमें? चल, उठ!"

शूकर उठा, पर उठते-उठते उसने पूछा—"महाराज, आपके स्वर्गमें कुरड़ियाँ और कीचड़के गड्ढे भी हैं या नहीं?"

बाबा हँसे—"अरे भोंदू! स्वर्गमें इनका क्या काम?"

अपनी कीचड़में फिरसे लेटते हुए शूकरने कहा—"फिर वहाँ है ही क्या खाक?"

उस दिन एक विद्वान् पधारे। एक ऐसी संस्थाके कार्यकर्ता, जो राष्ट्रका सांस्कृतिक केन्द्र कहलाती है। कुछ दिन पहले मैंने एक ऐसे व्यक्तिपर जीवन-परिचय लिखा था, जो समयकी बात, एक ऊँचे राज-पदपर भी प्रतिष्ठित हैं। उसकी चर्चा चली, तो बोले—"आपके पत्रोंको उनसे कुछ लाभ पहुँचता होगा!"

क्या मतलब? यही कि बिना मतलब किसीकी तारीफ कोई क्यों करेगा? मतलबसे भी तारीफ़ की जाती है, यह सच है, पर हमें सब जगह

और सबसे पहले वही क्यों दिखाई दे ? मैंने सोचा—उस शूकर और इस विद्वान्मे क्या अंतर है ?

लोक-गाथामे इस क्योका उत्तर है। गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे कहा—"कोई दुर्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कहीं कोई दुर्जन मिला ही नही।"

उन्होंने दुर्योधनसे कहा—"कोई सज्जन खोज लाओ।" वह सब जगह घूम आया, उसे कोई सज्जन मिला ही नही।

क्या बात हुई यह ? यही बात कि हमे अपना आपा ही सब जगह दिखाई देता है। हममे दोष है, हमें वे सब जगह दिखाई देते है। हम उन्हे ही सब जगह देखते हैं, इसलिए वे हममे बराबर बढ रहे है। जीवन दोष-गुणोका ताना-बाना है। कौन है जिसमें कमी नही—धोतीके भीतर सब नगे, पर दोष ही दोष दिखाई देना, पहले दोषपर ही दृष्टि जाना, हमारी दृष्टिका भेगापन है।

हम इस दोषसे बचे, दोषोके रहते भी गुणोको परखे, प्यार करे, तो पाये कि स्वय हमारे भी दोष कम हो रहे है—**'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'** गीता कहती है, जिसकी जिसमें श्रद्धा है, वह वही हो जाता है। हम गुणोको परखे, उनमे श्रद्धा रक्खे, तो स्वयं गुणी होते चले।



मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

श्रीमती शान्तिदेवीजी भीतरके कमरेसे बाहर चौकमे आ रही थीं कि उनका पैर रास्तेमे रखी बोतलसे टकरा गया।

बोतल सरसोंके तेलकी। तेल बिखर गया, नाखूनमें सख्त चोट लगी। झल्लाकर छेदासे बोली—"अरे, तू जहाँ देखता है, वही चीज़ पटक देता है। यह बोतल रखनेकी जगह है ? गधा कहींका !"

अवसरपारखी छेदाने अपनी बहूजीका पैर मसला, तेल समेटा और गल्ती मानी। हमारी शान्तिदेवीजी हैं बमभोला शिवशकर; वे हँस पड़ीं और बात आई-गई हुई, पर इसके कोई दस पन्द्रह दिन बाद उसी स्थानपर उसी घटनाने एक नया रूप ले लिया।

छेदा भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आ रहा था कि उसका पैर रास्तेमें रखी बोतलसे टकरा गया। पैरमे चोट लगी, तेल बिखर गया, बोतल टूट गई। वह सम्भल ही रहा था कि झल्लाकर शान्तिदेवीजीने कहा—"अरे, आँख फोडकर नही चला जाता तुझसे ?"

छेदा चन्ट-चतुर ! जानता था कि बोतल आज रास्तेमे बहूजीने रखी है; इसलिए शोखीसे मुसकराते, कन-अँखियोंसे देखकर वह बोला—"बहूजी, मैं आँख फोड़कर चलूं या आप रास्तेमे बोतल न रक्खें ?"

समझकी बात; मैं दोनों दिन वहीं था, इसलिए छेदाके प्रश्नमें जो मीठा-पैना व्यंग था, उसे मैं ले पाया और बहुत जोरसे मेरी हँसी फूट पड़ी। मैंने कहा—"ठीक है, जब छेदा रास्तेमें बोतल रक्खे, तब चीज़को गलत रखने-

का सिद्धान्त माना जाय और जब वही काम खुद बहूजी करें, तो आँख फोड़कर चलनेका असूल लागू हो।"

बात हँसीकी थी, हँसीमें घुल-मिल गई, पर मैं देखता हूँ कि हमारे जीवनमें व्यापक रूपसे यह रोग फैला हुआ है कि हम हरेक घटनाको, हरेक प्रश्नको, अपने ही दृष्टिकोणसे देखें। रोग, मैं इसे कुछ मुहावरेके तौरपर नहीं कह रहा हूँ। यह सचमुच एक नैतिक रोग है, जो मनुष्यको मानसिक रूपसे काना बना देता है। काना, जिसकी एक आँख दुर्भाग्यसे फूट गई!

ओह, क्या बात याद आ गई। मेरे एक मित्र थे श्री ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु'। वे एक बार मुझे भी यात्रामें साथ ले गये। जहाँ गये, वहाँ उनके एक यजमान थे। निमन्त्रण था, हम दोनों उनके घर भोजन करने गये। अजीब बात कि श्रीमतीजीकी दाहिनी आँख बद, तो श्रीमान्‌जीकी बाँई; दोनों काने! मैं सोचता रहा कि दो कमियोंका गठबन्धन कर, यह एक पूर्णताकी रचना की गई है या दो पूर्णताएँ रोगके किसी 'को-आपरेटिव' आक्रमणसे दो अपूर्णताओंमें बदल गई हैं?

भोजन चलता रहा, बातें चलती रहीं। बातों-बातोंमें जाने क्या बात हुई कि पति-पत्नीमें बात बढ़ गई और वे आपसमें भिड़ गये। लड़ाई बातों-बातोंकी, पर काफी पैनी। पतिको शायद उसके अहंकारने अचानक कहा—पत्नीकी यह हिम्मत और हिमाकत कि मेहमानोंके सामने तुझसे चोंच भिड़ाये!

वह भभक उठा और तमककर उसने कहा—"बेहया, बके जा रही है; कानी कहीं की!"

पत्नीने इस भभकको पिया-पचाया और तब अपनी अनदेखती आँखको जरा दबाकर, देखती आँखको कुछ कमान-सी ऊपरको खींचे, ठण्डे सुरमें कहा—"ओहो, हमने कोई दो आँखका भी न देखा!"

बस कुछ न पूछिए कि निशाना कहाँ बैठा। पति महाशय घड़ो नहा गये और मुझे हँसी रोकना मुश्किल हो गया, तो मै वहाँसे उठ भागा।

आपको भी सुन-पढकर हँसी आये, तो हँस लीजिए, पर बात तो सोचनेकी यह है कि क्या उन दोनोंकी तरह हम सब भी काने नही है और हमारा भी वही हाल नही है कि अपनी आँखको भूले दूसरेकी आँखपर निशाना लगाये हुए है ?

अच्छा, यह कानापन क्या है ? एक पिताके दो बेटे। खेलमे एक बन गया राम, तो दूसरा रावण, बस होने लगी तीरदाजी। तीर मामूली तिलनूके और धनुष बाँसकी खपच्चीका, पर तीर आखिर तीर ! रावणका तीर रामजीकी दाई आँखमे घुस गया और आँख जाती रही—हो गये काने। मतलब यह कि चोटसे या खोटसे, एक आँख बैठ गई और हो गये काने !

यह हुई बाहरी बात; कानेपनकी भीतरी भावना क्या है ? एक लोक-कथा है कि माका काना बेटा हरद्वार गया। लौटा तो माने पूछा—"हरद्वारमे तुझे सबसे अच्छा क्या लगा रे ?" गाँवके भोले बेटेने तबतक कहीं बाजार देखा नही था। बोला—"मा, हरद्वारका बाजार घूमता है।"

मा हरद्वार हो आई थी। बाजार घूमनेकी बात सुनकर वह घूम गई और चौंककर उसने पूछा—"कैसे घूमता है रे, हरद्वारका बाजार ?"

बेटेने नये सिरेसे आश्चर्यमे डूबकर कहा—"मा, मै हरकी पैडी नहाने गया, तो बाजार उधर था और नहाकर लौटा, तो इधर हो गया।" दु:ख पाकर भी मा हँस पड़ी और उसने बेटेको छातीसे लगा लिया।

दूसरे शब्दोंमे कानेका अर्थ है—एकागी; जो असलको, सत्यको, इकहरा यानी अधूरा देखता है।

मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

चलती रेल स्टेशनपर आ ठहरी। भीतर डब्बेमें कुछ मुसाफ़िर, जिनमें एकका नाम 'क' और डब्बेके बाहर दूसरा मुसाफिर, जिसका नाम 'ख'। ख चटखनी खोल भीतर आना चाहता है, पर क उसे कहता है—"अरे भाई, पीछे तमाम गाड़ी खाली पडी है, वहाँ क्यों नही चले जाते!"

'क' एक सुन्दर नौजवान है, खासकर उसकी दोनों आँखें, तो बहुत ही सुन्दर है, पर मानसिक रूपसे वह काना है, क्योंकि मुसाफिरोंकी सुविधाके प्रश्नको वह अधूरे रूपमें ही देखता है, पर क्या हम 'क'की निन्दा करें और 'ख'को अपनी सहानुभूति दें?

यह हो सकता है, पर अगले ही स्टेशन तक, क्योंकि वहाँ 'ख' डब्बेके दरवाजे आ अड़ता है और ऊपर चढ़ते मुसाफिरोंको झकझोरता है—"जब पीछेके डब्बोंमे जगह खाली पड़ी है तो यहाँ क्यो घुसे आ रहे हो?" चढ़नेवाले नही मानते, तो कहता है—"हमारे देशमें तो भेड़िया-धसान है साहब, जहाँ एक घुसेगा, वही सब घुसेंगे।" और तब उसकी देशभक्ति उमड़ आती है—"तभी तो हमारे देशका यह हाल है।"

इसी खने पहले स्टेशनपर 'क'के बारेमे सोचा था—"अरे भाई, डब्बेमे जगह होगी, बैठ जाऊँगा, नही तो खड़ा रहूँगा। तुम्हारे सिरपर तो मैं गिरूँगा नही, फिर तुम्हे मौत क्यो आ रही है!" तो क की तरह ख भी काना ही है!

एक और मित्र हैं। घरमे एक लड़का है, एक लड़की! लड़केका विवाह हुआ तो उन्होंने लड़कीवालेसे उसी तरह रुपया वसूल किया, जैसे पुलिस-वाले किसी चोरसे चोरीकी जानकारी उगलवाते हैं। बाधामें उन्हे ढाई हजार रुपये मिले, पर उम्मीद थी पाँच हजारकी। वे शान्त रहे, पर दूसरे दिन बेटेने फैल भर दिये कि यह तो वह लड़की ही नहीं है, जो पहले दिखाई थी, भला मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ! चार-पाँच घण्टेकी

रस्साकशीके बाद ढाई हजार और मिल गये, तो लड़की रूपमे लक्ष्मी और गुणमे सरस्वती हो गई।

मिले, तो मैंने कहा—"आपने तो कसाईको भी मात कर दिया खून निकालनेमे !"

बिना शरमाये और झिझके, वे बोले—"बिना दबाये गन्नेसे रस कहाँ निकलता है भाई साहब !"

कोई तीन वर्ष बाद उन्होंने अपनी बेटीका ब्याह रचाया, तो करमकी बात, उन्हे उन जैसा ही समधी मिल गया। ऐसा चूसा कि सफेद पड गये और यों कसा कि करवट न ले सके। विवाहके बाद एक दिन समाजकी दुर्दशापर आँसू बहाते-से वे कह रहे थे—"हमारे यहाँ लड़कीवालेको तो कोई आदमी ही नही समझता। कम्बख्त मुझे इस तरह देखता था, जैसे मै उसके बापका कर्जदार हूँ।"

जीमे आया कह दूँ—तीन वर्ष पहले तो आपको गन्नेकी उपमा बहुत पसद थी भाई साहब !

वही कानेपनकी बात; बेचारेका बाजार घूम गया—लेनेमे दायें, तो देनेमे बायें !

एक और मित्र है, जब मिलते है, अपने इकलौते बेटेकी शिकायत करते है—"कोई बात सुनता ही नही, सदा अपने मनकी करता है। नाकमे दम है पंडितजी ! ऐसी औलादसे तो बेऔलादा भला ! !"

एक दिन बेटा मिला, तो बोला—"मै तो उनसे परेशान हूँ पडितजी ! हमेशा रट लगाये रहते है यह मत करो, वह मत करो। आखिर आप ही बताइए कि मैं कोई भेड हूँ कि गड़रियेकी तरह वे मुझे हाँका करे, वरना मैं गड्ढेमे गिर पड़ूँगा।"

कोई नई बात नही, सिवाय इसके कि दोनों काने है—बापको बेटेकी

जवानी नही दीखती, तो बेटा बापकी बुजुर्गी नही देख पाता !

जो हाल बाप-बेटेका है, वही पति-पत्नीका। एक मित्र है। रातमें ११ बजे क्लबसे लौटते है, तो पत्नी सोई मिलती है। एक दिन दुःखी होकर बोले—"मै सुबह ६ बजेसे कोई १४-१५ घटे घरसे बाहर रहकर लौटता हूँ, तो श्रीमतीजी भैंस-सी पलगपर सवार मिलती है।"

एक दिन बातों-बातोंमे मैने कहा—"भाभीजी, आपसे भाई साहबको एक शिकायत है !" भरी तो बैठी ही थी, बीचमे ही बात काटकर बरस पडी—"ठीक है आपके भाई साहबको शिकायत है, पर पूरे १८ घटे तेलीके बैलकी तरह काममे जुटी रहनेके बाद, जरा पलंगसे कमर लगाती हूँ, तो उनके कलेजेमे मकोडे क्यो दौडते है ?"

वही बात कि दो काने एक गाँठमे बँध गये और पति महाशय पत्नीको और पत्नी महोदया पतिको अपनी अपनी आँखसे घूर रहे है।

अपरिचित मुसाफिर या परिचित मित्र, सगे-सबधी या पति-पत्नी और पिता-पुत्रसे आत्मीय; जब दो भिन्न विचारोंके लोग आपसमें बाते करते हैं और एक-दूसरेसे सहमत नही हो पाते, तो एक-दूसरेको बेईमान मान बैठते है और इस प्रकार सुलझानेवाली बातचीत, उलझानेवाली कडुवाहटमे बदल जाती है, पर यदि हम सब दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न करे, तो बडे-बड़े विवाद यों ही शान्त हो सकते है।

दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो वातावरणको कोमलतासे भर देती है। यह कोमलता समन्वयके लिए जगह बनाती है और इस प्रकार बीचकी दूरी कम होकर एकताका जन्म होता है।

यदि दूरी इतनी अधिक और मौलिक हो कि एकता असंभव रहे, तब भी यह दूरी इतनी कम जरूर रह जाती है कि बीचमें एक हल्का मतभेद ही रह जाय और मन-भेदतक बात न बढे।

दूसरेको हमेशा उसकी आँखसे देखिए और सावधान रहिए उस खत-रेसे, जो दूरबीनको उल्टी करके देखनेसे पैदा होता है ! यही यह भी कि सत्य वही और उतना ही नहीं है कि जो-जितना आप देख पाए। फिर यह भी तो सभव है कि हाथीके स्वरूपका अलग-अलग वर्णन करनेवाले वे दोनों आदमी शत प्रतिशत सच्चे होकर भी बस इसलिए अधूरे हों कि एकने हाथीको देखा था सूण्ड की तरफसे और दूसरेने पैरकी तरफसे !

छोटी क़ैंचीकी एक ही लपलपीमें !

आज शौचादिसे निवृत्त हो हजामत बनाने बैठा, तो शीशेमे देखा कि माथेके बाल बहुत ऊपरतक उड गये है, पर उडे हुए स्थानमें जो १०-५ बाल बचे है, उन्हींमें एक बाल है सफेद, जो बीचमे तनकर कुछ इस तरह खडा है कि जैसे कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा कर रहा हो। मुझे जाने क्यों, वह भला नही लगा और उसका वहाँ यो उद्धतभावसे खड़ा रहना असह्य हो उठा।

मैने अपनी छोटी कैंची उठाई और एक ही लपलपीमे उसे कुरक दिया। उसकी जड़ उखाड़ देना तो मेरे बसका न था, पर हाँ उस समय उसे मैने अदृश्य अवश्य कर दिया। मैंने गौरसे शीशेमे देखा। अब वहाँ उसका नाम-निशान कुछ भी न था। भीतर एक सुखका स्पर्श-सा हुआ, पर तभी मुझे बहुत जोरसे हँसी आ गई। बात यह हुई कि सुखके उस स्पर्शके साथ ही मेरे मनमें आया कि यह सुख वैसा ही मूर्खतापूर्ण है, जैसा उन अभागे शासकोका होता है, जो दमनसे दबे विद्रोहोको समाप्त मानकर संतुष्ट हुआ करते है। मैने सोचा कि यह धवल केश मेरी ही खोपडीमे छुपा इस समय गर्वसे शायद कह रहा होगा—"अजी, क्या रक्खा है क़ैंचीमें और क्या धरा है उस्तरेमे, अगले सप्ताह देखिएगा, यही अपना झण्डा फहराता दिखाई दूँगा।"

इस घोषणाके साथ मुझे लगा कि धवल केशकी यह फाइल अब दफ़्तर दाखिल हुई, पर तभी कहींसे झाँक पड़ा एक प्रश्न—क्यों जी, जब सिरपर हजारों बालोका खडा रहना बुरा नही लगता, यही नहीं, यह भी कि अच्छा लगता है, तो उस बेचारे एक सफ़ेद बाल्का ही खडा रहना तुम्हे ऐसा क्यो अखरा कि कैंची लेकर दौड़ पडे।

प्रश्नका तरीका है कि उसका समाधान हो; नही तो वह फाँस-सा

चुभता रहे। प्रश्न भी जीवनकी एक कसौटी है। 'सबसे भले हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापे जगत रति' यह तुलसीदास कह गये हैं। मेरी रायमे मूढ़ वह, जिसके मनमे कोई प्रश्न ही न उठे। जो जीवनको देखता है, जीवनके बीचमे गुजरता है, पर जीवनमें दिलचस्पी नहीं लेता, जिसके मनमे जीवनके सम्बन्धमे प्रश्न ही नही उठते, वह मूढ़ ही तो है।

फिर प्रश्नोकी भी श्रेणी है कि किस तरहके प्रश्न मनमे उठते हैं। रातमें तारोंको देखकर कविके मनमे भी प्रश्न उठते है, वैज्ञानिकके मनमे भी और भक्तके मनमें भी, पर तीनोके प्रश्न अलग-अलग है और उनके प्रश्न ही उन तीनोंको परखनेकी कसौटियाँ हैं। साथ ही यह भी कि किसके मनमे किस तरहके प्रश्न उठते हैं और वह किस तरह उनका समाधान पाता है।

इस सम्बन्धमे मेरा अपना तरीका यह है कि मुझमे स्वय प्रश्न उठते है और मै स्वय अपनेमे ही उनका समाधान खोजता हूँ। कई बार मुझे कई-कई वर्षोंमे अपने प्रश्नका उत्तर मिला है और कई बार तुरत, पर अपनेसे बाहर समाधान पानेकी मुझमें प्यास कभी नही जागी।

बात यह कि मै विद्वान् नही हूँ, जीवन-पथका एक सतर्क यात्री हूँ; इसलिए मेरे प्रश्न तत्त्व-ज्ञानकी, गहरी जिज्ञासाके तो हो ही नही सकते। उनका सम्बन्ध जीवनके साधारण उलट-फेरोके साथ ही होता है और तभी यह भी कि उनका उत्तर जीवनकी गतिविधिमे ही मिले।

आजका प्रश्न भी जीवनका एक स्वाभाविक प्रश्न है कि क्यो जी, जब सिरपर हजारो काले बालोंका खड़ा रहना बुरा नही लगता, यही नहीं, यह भी कि अच्छा लगता है, तो उस बेचारे एक सफ़ेद बालका ही खड़ा रहना तुम्हें ऐसा क्यो अखरा कि क़ैंची लेकर पड़े?

प्रश्न फालतू हो, तो उसका टालतू उत्तर है मौन, पर वह फालतू न

होकर सही दिशामें हो, तो उसका समाधान हो, नहीं तो कहा नहीं मैंने कि वह फाँस-सा चुभता रहेगा—चुभ ही रहा है।

मैंने समाधानकी दिशामें झाँका ही था कि मुझे याद आ गये मेरे मित्र शर्माजी। हजामत तो वे बनाते हैं तीन ही मिनटमें, पर मूँछें ठीक करते हैं पूरे छह मिनटमें। बात यह है कि नाकके ठीक नीचे उनकी घनी काली मूँछोंमें कोई १०-१५ सफ़ेद बाल उग आये हैं। वे उन्हें अपनी छोटी-सी कैंचीसे कुतर-मुतर करते रहते हैं और मुसीबत यह है कि वे यह तो चाहते हैं कि सफेद बाल किसीको दिखाई न दें, पर वे यह भी चाहते हैं कि किसीको यह भी दिखाई न दे कि उन्हें यहाँसे हटाया गया है। गरज यह कि वे उनका अपने साथ कोई सम्बन्ध होना अपनी हेठी मानते हैं।

फिर वही प्रश्न कि आखिर सफेद बालसे यह चिढ़ क्यों ? प्रश्न मेरी चेतनामें चक्कर काट रहा है और प्रश्न क्या चक्कर काट रहा है मैं ही चक्कर काट रहा हूँ। चक्करका अर्थ है घूमना। घूमना यानी अब यहाँ, तो तब वहाँ, लो पहुँच गया मैं वासुदेवकी माँके घर। उम्र ४० सालकी है, सब तरहसे सुखी, स्वयं सुहागन है, आगे बेटा-बहू हैं। उस दिन मैं वासुदेवको बुलाने गया, तो देखा कि माँ धूपमें बैठी अपनी बहूसे सफेद बाल चुँटवा रही है। ओह, इसे भी सफेद बालसे चिढ़ है।

मनमें आया ठीक तो है यह चिढ़ कि सारे बाल तो काले, बीचमें २-४ सफ़ेद। ठीक ऐसा लगता है कि सफ़ेद कुरतेमें किसीने लाल टुक्की लगा दी हो। सफेद बालके प्रति हमारी यह चिढ़ हमारे सौन्दर्य-बोधका ही चिह्न है। मनको सन्तोष हुआ कि मैंने जो अपने चमकते मस्तकसे यह सफेद बाल फुर्तीके साथ कैंचीसे बुरका, तो यह इस बातका एक प्रमाण ही हुआ कि मुझमें सौन्दर्य-बोध है।

आदमी भी कितना चतुर है कि वह औरोंको तो घिस्सा-पट्टी देता

ही रहता है, अपनेको भी नही छोड़ता। मैंने भी यों अपनेको सौन्दर्य-बोधका पण्डित मान लिया, पर यह मानना टिका नहीं; क्योंकि तभी मुझे याद आ गये मेरे मित्र चौधरी साहब! मशहूर आदमी हैं। समाजमे नाम है, अण्टीमें दाम है। उम्र ढल चली है, पर देहमे बल है, चेहरेपर रौनक भी। बाल उनके काले हैं, यही मैं जानता था, पर उस दिन लखनऊ जानेकी बात चली तो बोले—"मेरे लिए खिजाबकी एक शीशी लेते आना। अमीनाबादपार्कमे मदिरसे आगे जो बड़ी-सी दुकान है, उसपर मिलेगी। ये लो पाँच रुपये।"

मैंने पूछा—"क्या कीजिएगा खिजाब मँगाकर?" बोले—"नज़लेके मारे सिर सफेद हो गया है।"

सोचना पड़ा कि सफ़ेद बालसे हमारी चिढ हमारे सौन्दर्य-बोधका चिह्न तो नही है; क्योंकि जिनके १०-२० बाल सफ़ेद है, वे ही उन्हे नहीं नोचते; जिनका सारा सिर सफेद है, वे भी उन्हे रँगते हैं।

सफ़ेद बालसे यह चिढ़ किस सीमातक है, यह मैंने मियाँ नूरूसे समझा। नूरू हमारे ही मुहल्लेमे रहता है, रातमे मडीमे चौकीदारी करता है। उस दिन दोपहरको अपने घरके बाहर बैठा था। मैं उधरसे निकला, तो देखा कि उसके सारे सिरपर कोई दवा लगी है और ऊपर पट्टी बँधी हुई है।

देखा तो धक्‌से रह गया। मनमें आया, रात मंडीमे कही चोरोंसे मुठभेड़ हुई है और सिर फूटा है। सहानुभूतिसे पूछा—"क्यो भाई, कहाँ चोट खा गये?"

"चोट!" नूरू मुसकराया—"बाबूजी, यह तो मैंने मेहँदी लगा रक्खी है।"

"सिरमे मेहँदी क्यों?" उत्तरमें उसने बताया कि—"खिजाबकी

मामूली शीशी भी डेढ़ रुपयेमें आती है। कहाँसे लायें बाबूजी, इसलिए, बाग़से मेहँदी चूँट लाये और पीसकर लगा ली।"

"पर नूरू भैया, इससे बाल काले तो नहीं होते?" मैंने कहा, तो बोला—"अजी, काले नहीं होते, तो क्या हुआ, सफ़ेद दाग भी तो नहीं रहते।"

मतलब यह कि कुछ भी हो, बाल सफेद न रहें—भले ही वे लाल हो जायें।

लहरमेंसे लहर उठती है, तो बातमेंसे बात। नूरूकी बातमेंसे नई बात उठी—बालोंकी सफेदीसे आदमीको चिढ है, चिढ गहरी भी है पर है, क्यों यह चिढ़?

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। इस प्रश्नका उत्तर अतीतमें एक कवि दे गये हैं। वे थे केशवदास। बडे रसिया थे, पर बेचारोंके बाल सफेद हो गये, तो रस-भंग होने लगा। एक दिन दुखी होकर अपनी भाषामें बोले—

"केशव, केशन अस करी, अरि हूँ जस न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं॥"

देह बूढी हो चली है, पर मन अभी तरुण है। तरुणाई रँगरेलियोंका त्यौहार है, पर बाबा कहनेका अर्थ है कि द्वारपर ही उनका प्रवेश-निषेध हो जाये। तो काला केश जीवनके चढावका चिह्न है और सफेद बाल ढलाव-का। चढावमें चाव है, ढलावमें शान्ति है। चावमें प्राप्तिकी कामना है, शान्तिमें प्राप्तका संतोष है। कामनाकी शक्ति है आकर्षण, संतोषकी शक्ति है इच्छा-हीनता।

काला केश यौवनका चिह्न है, सफेद बाल बुढापेका। यौवनकी वृत्ति है—पाओ, और पाओ, अभी और। बुढापेकी वृत्ति है—ठहरो और पाये

हुएको परखो। यौवनकी वृत्तिका स्वरूप है—पिओ, पिओ, पिये जाओ, छको मत। बुढापेकी वृत्तिका स्वरूप है—बहुत पी चुके, अब ठहरो।

यौवन रक्त है, बुढापा ओज है। यौवन समेटना है, बुढापा सहेजना है। यौवन यात्रा है, बुढापा पड़ाव है।

काला वर्ण है—एकांगिताका चिह्न, सफेद वर्ण है—सर्वांगीणताका चिह्न; क्योंकि काला एक रंग है और सफ़ेदमें सब रंगोंका समन्वय है।

सफेद बाल कहता है कि बुढ़ापा आ गया है, यौवनमें जो कुछ समेटा है, उसे सहेज लो।

समेटमें सामग्रीकी बहुलता है, सहेजमें उसका वर्गीकरण है और यह भी कि जो फालतू है, बोझ है, उसे हम फेंक दें।

हमारा मोह यहाँ चौंकता है, बिदकता है—नहीं, अभी नहीं, अभी तो समेटका, संग्रहका, जो मिले, सो लेनेका ही समय है।

सफ़ेद बालके प्रति हमारे मनमें जो चिढ़ है, वह इसी मोहकी ध्वनि है और इस ध्वनिकी प्रतिध्वनि है कि हम अभी संघर्ष चाहते है, सुख नहीं। यौवनमें संघर्ष है, उत्तेजना है, बुढापेमें शान्ति है, सुख है। संघर्षमें जीवनका रस है, सुखमें जीवनका फल है। रस काव्य है, सुख अध्यात्म है।

हम रसमें इतने लीन है कि फलकी ओर नहीं देख पाते—उस राहीकी तरह, जो चलते चलते राहकी चीजोंको देखनेमें इतना मशगूल है कि मंजिलको पार करके भी सोचता है, काश, अभी चला ही चलता।

ओह, इस चलाचलीमें मैं कहाँ चला गया—बात तो बस इतनी ही है कि मेरी चमकती चाँद परजो थोड़ेसे बाल बच गये है, उन्हींमें एक था सफेद; जाने क्यों मुझे वह अच्छा नहीं लगा और अपनी छोटी कैंचीकी एक ही लपलपीमें मैंने उसे तुरक दिया!



यह सड़क बोलती है !

नई दिल्लीकी एक सड़कका नाम है—पार्लमेंट स्ट्रीट। आल इण्डिया रेडियो इसीपर है और इसके चौराहेपर आते ही सामने दिखाई देता है वह गोल भवन, जिसमें हिन्दुस्तानके भाग्यका फैसला हुआ करता है।

क्या नाम है इस सड़कका भी! १५ अगस्तको हिन्दुस्तानमें हरेक चीज बदल गई, यहाँतक कि राष्ट्रीय झण्डा भी चर्खा छोड़कर चक्रधारी हो गया, पर यह सड़क है कि पड़ी-पड़ी आते-जातोंसे मसखरियाँ करके कहती है—भाई, मैं पहले ही जानती थी कि दुनिया बदलेगी। कहो फिर बदली या नहीं? ऐसी बदली कि बरसाती बदली भी न बदली होगी, पर मैं आनेवाले दौरको पहले ही समझ गई थी और वाह क्या नाम रक्खा था मैंने भी अपना—पार्लमेंट स्ट्रीट। रास्ता बताती थी असेम्बली-भवनका और थी पार्लमेंट स्ट्रीट। कहाँ बेकार, बेअसर बहस करनेवाली असेम्बली और कहाँ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पार्लमेंट; मुझे मालूम थी १५ अगस्तकी बात!

सच मुझे मालूम थी, बिलकुल उसी तरह, जिस तरह ज्योतिषियोंको चाँद-सूर्यके ग्रहणकी बात। न अन्दाज, न अटकल, न गालिबन, न यथा-सम्भव, पंचांगमें साफ छपा रहता है और छपा क्या रहता है कोई यों ही, उसकी तस्वीरतक बनी रहती है कि कितना ग्रहण लगेगा। अजी, मिनट तो बहुत बड़ी बात है, पलोंकी गिनती लिखी रहती है। फिर दुनिया कोई मेरी मौसीका घर तो नहीं कि चाहे जहाँसे देख लो, वैसा ही दीखे—यह दुनिया है जनाब, विश्व- ब्रह्माण्ड। पंचांगमें साफ लिखा रहता है कि ग्रहण हिन्दुस्तानमें इतना दीखेगा, अफ्रीकामें इतना, अमरीकामें इतना और फ्रांसमें दीखेगा ही नहीं।

"तो क्यों जी, ये ज्योतिषी लोग ग्रहणको ही पहलेसे जान लेते है या आदमीकी क़िस्मतको भी ?"

वाह, क्या सवाल पूछा है आपने भी ! किस्मत ही नही, ये लोग क़िस्मतके पन्नोंका एक-एक अक्षर ऐसा पढ़ लेते है, जैसे चवन्नी-दर्शक सिनमाके गानोंकी किताब !

कुछ लोग बौक्सोंमें बैठकर सिनेमा देखते है, कुछ फर्स्ट क्लासमे। सफ़ेदपोश ग़रीब आदमी भी अपने बच्चोंका दूध बंद करके १० आनेका टिकट खरीदते हैं। कुछ लोग और भी उस्ताद हैं। टिकट तो लेते है, १० आनेका, पर मैनेजर साहबसे दोस्ती गाठकर उसे सेकेण्ड क्लास बनवा लेते है, पर ये सब बेचारे यों ही पैसे खोते है सिनेमामें जाकर। पुराने लोग कहते है पैसा हाथका मैल है, पर आँखोंकी रोशनी तो हाथका मैल नही, उसे भी खोते है ये लोग। बौक्सोंमे तो जाने क्या क्या होता है, पर फर्स्ट और सेकेण्ड क्लासमे भी लोग घास खोदते है,जी हाँ, घास खोदते हैं, यानी समयकी जड़ काटते है।

जड़ काटनेका मतलब आपने खूब पूछा—समय कोई पेड थोड़े ही है कि उसकी जडपर कोई कुल्हाडी मारे ! समयकी जड़ काटनेका मतलब है, समय बर्बाद करना। वही करते है ये लोग। ऐसे गुमसुम बैठे रहते हैं, जैसे इनके मुँहमे हापू निकल आया हो। कुछ लोग बात भी करते है, तो बेकार की। एक साहब है, अपनी टार्च जला-जलाकर कुछ नोट-बुकमे लिखते रहते है। बेचारे संपादक होंगे किसी पत्रके। तभी तो अंधेरेमे पटबीजने बन रहे है। घर जाकर आलोचना करेंगे फिल्मकी। अरे साहब, फिल्म है तफरीह—मनोरंजन। दिनभर दफ़्तरमें घिसे, शामको घरके धन्धोंमे पिसे, रातको ये दो घण्टे मिले, हँसिए, उछलिए, फुदकिए, चहकिए !

असलमें सिनेमा देखना सीखिए पाँच आनेवालोंसे। ऐसे लीन रहते

है फिल्ममें कि क्या कहने। किसीकी शादी पर्देपर हुई, तो ऐसे खुश है कि बस जैसे वे ही दूल्हे बन रहे हों। किसी प्रेमिकाने अपने प्रेमीको आधी रात बागमें बुलाया, तो जैसे उन्हींको निमन्त्रण मिला है। हर मौकेपर फिट रिमार्क और चुस्त चोचलेबाजी। क्या खाक बीड़ी पीकर आलोचना लिखेंगे बेचारे संपादकजी; हुँ! एक दिन इस दर्जेकी आलोचनाको शार्टहैण्डसे लिख ले, तो सपादकजी धन्य हो जायँ! ये लोग थके हुए आते हैं और ताजे होकर लौटते हैं, जब कि गद्दोंपर बैठनेवाले सिनेमा हालके बरामदेमें अंग-डाइयाँ लेकर अपनी मोटरों या तांगोंकी सीटोंपर आ गिरते हैं। सच यह है भाई साहब, जिन्दगी जिन्दादिलीका नाम है।

यह दुनिया भी चोचोंका मुरब्बा है। चोचोंका मुरब्बा? हाँ जी, एकदम चोचोंका मुरब्बा। जो लोग दिनभर गद्दियोंपर बैठे रहे, बद हाजमा जिनका ऐसा साथी कि मरियम सो मरियम पै टरियम नही, सिनेमामें बैठे-बैठे भी जिनकी पिण्डलियाँ फूल जाती हैं, वे मोटरोंमें क्यों बैठते हैं? रातका सुहावना समय और परिवारका साथ, टहलते-टहलते घर आये, तो क्या कहने! और जो कहीं चाँदनी रात हो, तो वाह, वाह! चाँदनी रात क्या है, धरतीका स्वर्ग है।

सुना है अमेरिकामें एक करोड़पतिका लड़का ३–४ सालकी उम्रमें अन्धा हो गया। यह तबकी बात है, जब वहाँ आँखोंका आपरेशन नहीं होता था। ३६-३७ वर्ष वह अन्धा ही रहा, अन्धापन प्रकृतिका कितना बड़ा दण्ड है! पिछली लड़ाईमें जो नये-नये आविष्कार हुए, उनमें कई औषधियाँ भी थीं और कई नये आपरेशन भी! उस लड़केकी किस्मत जागी और वह ठीक हो गया। लड़का क्या अब तो वह ४० सालका अधेड़ था। ओह, उसकी खुशी! बादलको देखकर मोर भी क्या नाचा होगा, जो वह नाचा। सारी दुनिया उसे अजीब लगी। हर चीजको वह एक खास

कौतुकसे देखता, घंटों देखता, बार-बार देखता, देखता ही रहता। उसे आश्चर्य होता कि इस इतनी सुन्दर दुनियाको देखे बिना ये अन्धे कैसे जीवित रहते हैं ?

एक दिन अचानक उसके मनमें आया कि वह सारे संसारके सुन्दर स्थानोंकी सैर करे। रुपया पास था, काम-धन्धेकी चिन्ता न थी, बस निकल पड़ा दुनियाकी सैरको! यह देख, वह देख। घूमता-घामता वह हमारे देशमें भी आया। अमेरिकामें पहुँचकर जब पत्रकारोंने उससे पूछा, तो उसने कहा—दुनियाकी सबसे सुन्दर चीज हिन्दुस्तानमें पूनोकी चाँदनी रात है। उस दिन ऐसा मालूम होता है कि लोहेकी काली रात अचानक चाँदीकी हो गई है।

वाह, क्या कवियों-जैसी बात कही है उस धनी अमेरिकनने। मेरी भी यही राय है कि चाँदनी रात धरतीका स्वर्ग है, पर भाई साहब, हमारे देशमें कुछ लोग हैं, जो चाँदीके तगार घोलनेमें परेशान हैं और कुछ आसमानके स्वर्गका पासपोर्ट बनवानेमें। यह अपने सामने फैली चाँदी और अपनी मुट्ठीका स्वर्ग उन्हें दिखाई ही नहीं देता!

आदमीके दिमागमें यह क्या खुराफात भरी है कि वह काञ्चनको छोड़कर काँचकी ओर लपकता है। एक स्वामीजी एक दिन अपने किसी चेलेको एक कहानी सुनाते जा रहे थे कि एक गरीब आदमीने किसी साधु महात्माकी बड़ी सेवा की। महात्माजी प्रसन्न हो गये और बोले—लो, यह पारस पथरी तुम्हें दिये जा रहा हूँ, परसों आकर ले लूंगा। तबतक जितना सोना तुम चाहो बना लो। परसों जब मैं आऊँगा तो ठहरूँगा नहीं। फौरन पारस पथरी लेकर चला जाऊँगा। गरीब आदमी बड़ा खुश हुआ, पर उसने सोचा कि अब तो मेरा भाग्य बदल ही गया, अब क्या। आज तो इस खुशीमें मैं खूब सोऊँगा और कल लोहा खरीदकर उसका सोना बनाऊँगा। वह उस

दिन खूब सोया। दूसरे दिन सुबह उठा और लोहा खरीदने चला, पर रास्तेमें एक मदारीका खेल हो रहा था, वह उसे देखनेमें लग गया और दोपहरी चढ़ आई। रईसी बेचारेके दिमागमें आ ही गई थी। सोचा-चलो, अब खाना खाकर सोएँगे। शामको लोहा खरीदेंगे। खरीदा और पारस पथरी फेरी; काम ही कितना है। शामको लोहा खरीदने गये, तो भाव न बना। उनका कहना था कि जब हम ५०-१०० मन इकट्ठा खरीद रहे हैं, तो दुकानदारको हमारा लोहा हमारे घर पहुँचा देना चाहिए, पर दुकानदार इसपर तैयार न हुआ। ग्राहकके दिमागमें नई रईसीके सुपनोंकी गरमी, वह भी न झुका और चला गया। उसने सोचा—महात्माजी कल सुबह थोड़े ही आ जाएँगे? मैं जल्दी उठकर दूसरी दुकानसे लोहा खरीद लूँगा, पर दूसरे दिन वह सो ही रहा था कि महात्माजी आ पहुँचे। वह बहुत रोया, घिघियाया, पर वे न माने। इसके लिए भी तैयार न हुए कि वह गरीब अपने किवाड़ोंकी कुण्डी-साँकल हीका सोना बनाले। महात्माजी अपनी पारस-पथरी लेकर चलते बने। बेचारा सिर पीटता रह गया, पर यह कसूर किसका था?

दुनियामें बहुत ही कम लोग हैं, जो नफे-नुकसानको ठीक-ठीक समझते हैं। यह बेवकूफ भी मजदूरीके कुछ रुपये बचानेकी चिन्तामें, लाखोंका नुकसान कर बैठा। कभी-कभी तो नफे-नुकसानका सवाल इतना सूक्ष्म हो उठता है कि उसे समझना ही मुश्किल हो जाता है। बड़े-बड़े पंडित खो जाते हैं कि नफा क्या है, नुक़सान क्या है?

एक दिन किसी बड़े घरका खानसामा—दो साइकिलें एक साथ लिये जा रहा था। अब सूरत यह थी कि वह जमीनपर पैदल और एक साइकिल उसके बायें हाथ और एक दायें हाथ। दोनोंको लिये वह जा रहा पैदल। अब देखनेमें उसके पास दो सवारियाँ, पर असलमें वह खुद एक सवारी बना

हुआ। यानी साइकिलोंपर वह नहीं, साइकिलें उसपर सवार। जिनके पास एक साइकिल वे हवासे बातें करते हुए निकले जा रहे हैं, पर जिसके पास दो सवारियाँ, वह घिसट रहा है जमीनपर। हाँ जी, यह घिसटना ही है कि साइकिलोंपर हाथ रक्खे चले जा रहे हैं, जैसे यह भी कोई नृत्यकी मुद्रा हो या डान्सका पोज ! अब अगर यह खानसामा एक साइकिल किसीको दे दे, तो क्या हो ? पहली बात तो यह कि यह सवारीसे सवार हो जाये और दूसरी यह कि इसे एक और आदमी भी अपनी बगलमें हवासे बातें करता नज़र आये। हमेशाके लिए जो एक आदमी सुख-दुखका साथी बन जाये, वह नफेमें, पर नहीं यह जमीनपर ही रेंगेगा और किसीको देगा नहीं अपनी एक साइकिल !

और फिर इस बेचारे खानसामाकी क्या शिकायत ! यह तो किसी दूसरेकी साइकिलें लिये जा रहा है। यह एक किसीको दे दे, तो इसकी वह चाँदमारी हो कि तबियत हरी हो जाए ! हमारा तो सारा समाज ही इस विषमताका शिकार है। हमारे विद्वानोंने अर्थशास्त्रके नामपर समाजमें कहीं टीबे खड़े कर दिये हैं और कहीं गड्ढे खोद दिये हैं। नफ़ा-नुकसान भी यह एक अजीब पहेली है !

और क्यों जी, पहेली क्या नहीं है ? सारा जीवन पहेली ही पहेली है। प्राचीन भारतके किसी धर्म-जिज्ञासुने परेशान होकर कहा था—'**श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्** !' वेद अलग है, स्मृतियाँ अलग हैं, अरे भाई, कोई भी ऐसा मुनि नहीं, जिसकी बात हरेकके लिए प्रमाण हो और फिर खैर, यह तो धर्मकी बात हुई—**धर्मस्य त्वरिता गतिः**— धर्मकी गति सूक्ष्म है, उसे माँपना आसान नहीं, पर यहाँ तो हरेक आदमीकी अपनी ही राय है।

मेरे पड़ौसमें स्टेशनसे सिविल लाइनको जो सड़क गई है, उसपर कुछ

लम्बे-लम्बे पहाड़ी पेड़ खडे हैं। उनमेंसे एकपर उस दिन एक चील बैठी थी। उधरसे दो ऐंग्लो इंडियन लड़के आये और उन्होंने अपनी छोटी बन्दूकसे उस चीलपर वार किया। निशाना ठीक बैठा, छर्रा कलेजेको बीध गया। चील टूटे आम-सी नीचे आ गिरी। बारूदकी आगमे वह भुनी जा रही थी। उन लडकोंने उसे देखा और चल दिये। उनसे किसीने कहा—अरे, इसे मारा है, तो उठा ले जाओ!

लडके बोले—"हम इसे क्या करेंगे?" पूछा गया कि तब तुमने इसे मारा ही क्यो? लडके मुसकराये—"वाह, हम तो निशाना सीख रहे है!" तभी उधरसे दो और लड़के आये। एकने दूसरेसे कहा—आ भाई इसे हलाल करे। वे दोनो उसके पास जा बैठे। चाकू निकालकर उन्होने कुछ मंत्र-सा पढा और उसके गलेमे वह उतार दिया। चील हमेशाके लिए सो गई। लड़कोंने अपना चाकू घासमे साफ़ किया और चलने लगे। किसीने उनसे कहा—"अरे भाई, तुमने मारा है, तो ले जाओ इसे!"

लड़के बोले—"हम इसे क्या करेंगे ले जाकर?"

"खा-पका लेना और क्या करोगे?"

"जी नही, चीलका गोश्त खानेके लायक नही होता!"

"फिर तुमने इसे मारा ही क्यो?"

"अजी, हम तो हलाल करना सीख रहे थे!"

अब बताइए, एककी रायमे चील निशाना सीखनेका सिर्फ काला सितारा है, तो दूसरेकी रायमे हलाल सीखनेकी कुन्जी ही! है न हरेककी अपनी राय? यह अपनी रायका मसला इतनी बडी पहेली है कि सुलझाये नही सुलझती। इस दुनियामे लाखो आदमियोका यही पेशा है कि वे यह बतायें कि इस मामलेपर अमुक महापुरुषकी क्या राय थी? इससे भी मजेदार यह कि यदि इस मसलेपर महापुरुषने कभी कोई राय नही दी, तो यदि

वे राय देते, तो क्या देते? समाजमे इन्हें धर्मगुरु कहा जाता है, इनका मान किया जाता है। अच्छा छोड़िए धर्मगुरुओंकी बात; इन वकीलोको देखिए। दोनो तरफके दो वकील, पर कानून एक। दोनों अपना-अपना अर्थ बताते हैं। अब जिसका भी अदालत मान ले—यानी क़ानून न हुआ, लाटरी हुई कि जिसकी खुल गई, खुल गई!

ओह, मै भी इधर-उधरकी बातोंमें ऐसी उलझी कि अपनी बात ही भूल गई। मै कह रही थी कि मेरा नाम पार्लमेंट स्ट्रीट है और भविष्यका रूप मै पहलेसे ही जानती थी। बात यह है कि जब सिरपर आ पड़े, तब तो सभी समझ लेते है, पर खूबी तो उसकी है, जो दूरसे ताड़ ले। मै यह न ताड पाती, तो आज मेरा भी तख्ता उलटा जाता। मेरा यह पाठ ससार पढ ले, तो ६५ फ़ीसदी दुख छू-मन्तर हो जायँ। मै आज भी लोगोंकी बातें सुनती रहती हूँ। ससार बदल रहा है, पर सामाजिक और धार्मिक संस्कारोंके सबंधमे लोग अपने विश्वासोको नही बदलना चाहते। अब कोई पूछे इनसे कि २०वींमे १६ वी सदी कैसे टिक सकती है? बदलेंगे बेचारे, रो-झींककर, पर बात उनकी है, जो भविष्यको वर्तमानमें देख ले और तैयार हो जाएँ उसके लिए।

मेरी तो यही बात है, जिसे मै अपने देशके हरेक आदमीसे कहना चाहती हूँ और इसीलिए मै हर आते-जातेसे बोलती रहती हूँ।

धूप-बत्ती; बुझी, जली !

अपनी कोठरीमे आते ही देखा कि कल सुबह जो धूप-बत्ती जलाई थी, वह पूरी तरह जली नही थी, कुछ जलकर बुझ गई थी और अब भी ज्यों की त्यों खडी है। मुझे वह सिर-जली ऐसी लगी कि जैसे कोई मनुष्य हो, थोडे बहुत ज्ञानसे जिसका बौद्धिक जागरण तो हो गया हो, पर मानसिक विकास न हुआ हो और वह उस बौद्धिक जागरणको अपना सपूर्ण विकास मानकर अहंकारमे उफना फिरता हो।

हाय रे बिचारे ज्ञान-दग्ध—**ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ।**

मेरा मन दयासे भर गया और मैंने उस धूप-बत्तीको बिना उठाये ही फिरसे जलानेका निश्चय कर लिया। झट मैंने दियासलाई जलाई और उसे धूप-बत्तीके सिरसे लगाया। दियासलाई जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने दियासलाईकी दूसरी सीक जलाई और उसे उसके दाहिनी ओर लगाया, पर धूप-बत्ती न जली। मैंने तीसरी दियासलाई जलाई और उसे उसके बाईं ओर लगाया, पर वह भी जलकर बुझ गई।

धूप-बत्ती अब भी बिना जली—पहले जैसी ही सिर-जली खड़ी थी और मेरे लिए अब कोई मार्ग न था कि उसे खड़ी रहते जला दूं। मैंने उसे उसके स्थानसे उखाड लिया और उसे झुकाकर चौथी दियासलाई जलाई। अरे साहब, वह दियासलाईसे छूते ही जल उठी। दियासलाईमे अब भी इतना दम था कि तैयार हो, तो वह ४-५ धूप-बत्तियां और जला दे !

जलती धूप-बत्तीने अपनी सुगन्धसे कोठरीको भर दिया। यह काम समाप्त हुआ तो बुद्धिने अपनी कलाबाजी दिखाई—तीन दियासलाइयां

पूरी जलकर बुझ गई, पर धूप-बत्ती न जली और एक दियासलाईके स्पर्श मात्रसे ही वह भभक उठी, यह क्या बात है ?

मनने कहा—कोई बात तो है यह; पर प्रश्न तो यह है कि क्या बात है वह ?

अब ऊहापोह की बारी है, तर्क-वितर्ककी बारी है, चिन्तन की बारी है।

जबतक तीन दियासलाइयाँ जलकर बुझी, धूपबत्ती खडी थी और जब वह चौथीको छूते ही जल उठी, तो झुकी हुई थी।

लगता है—इस अनुभवसे मेरे प्रश्नका उत्तर आ गया है, पर वह इतना सकेतात्मक है, कि कहूँ—समा गया है। समायेको जानना आवश्यक है, तो सोच रहा हूँ कि धूप-बत्ती खडी हो या तिरछी, उसमें जलनेकी शक्ति बरावर ही है, पर खड़ी हुई धूप-बत्ती दियासलाईकी ज्वालाको ग्रहण करनेमे असमर्थ रहती है और तिरछी धूप-बत्ती उसे सुगमतासे ग्रहण कर लेती है; क्योंकि झुकी हुई धूपबत्तीको दियासलाई अपनी लौके पूरे घेरेमें ले पाती है और सीधी खड़ीको नहीं।

बात हाथ आ गई, पर बात अपनेमें इकली-इकहरी बात ही तो नही है—उसमे बात-बातमे बात भी तो है-'**ज्यों केलेके पातमें पात-पातमें पात।**'

तो यह निकली आ रही है बातमेंसे बात कि किसीसे कुछ लेना हो, तो झुकना आवश्यक है। झुकना, क्या शरीरका ? नही जी, यों झुककर, दण्डवत् लेटकर ही तो फौजके सिपाही गोलियाँ दागते है; तो झुकना देहका नही, भावका। साफ़-साफ यों कि पानेके लिए नम्र होना आवश्यक है। लोकोक्ति है—बेटा बनकर सबने खाया, बाप बनकर किसीने नही। यह बेटा बनना नम्रता ही तो है ?

याद आ रहा है सस्कृतका एक श्लोक, जिसमे सुखकी कुजी बताई गई

है—**विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् । पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् ।** भाव यह है कि विद्यासे मनुष्यमें विनय आती है, विनयसे पात्रता—पानेकी योग्यता—और वह पात्रतासे पाता है धन, धनसे करता है धर्म, तब सुख ही सुख। तो पात्रताका मूल है विनय, नम्रता—झुकना।

क्यों भला? नम्रतासे दाताके मनमें प्रवेश पाना सुगम है, सहज है। इससे दाताके मनमें देनेकी वृत्ति खिलती है, वह देनेमें सुख पाता है और अविनयसे वह वृत्ति संकुचित होती है, वह देनेमें भार मानता है।

हमारे लोक-जीवनमें इसका एक मर्मस्पर्शी संस्मरण सुरक्षित है—'कानी भाभी, पानी पिला। हाँ, इन बोलों दूधके कटोरे!'

भाभीकी एक आँख शीतलामें मारी गई और अब वह कानी है। उसका देवर—भाभीके लिए जिससे प्यारा कोई रिश्ता नहीं—उससे पानी चाहता है। लोककी ही अभिव्यक्ति है—पानीसे भी पतला क्या? देवर-को ही क्या, पानी तो किसीको भी पिलाया जा सकता है, उसके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नहीं।

ठीक है, पानी पानेके लिए किसी पात्रताकी आवश्यकता नहीं; पर अपात्रता न हो, यह तो आवश्यक है और 'कानी' विशेषणने—देवरकी अविनयी वृत्तिने—उसकी अपात्रता सिद्ध कर दी है।

भारतीय संस्कार है कि जो अपात्रको दे—अपात्रेभ्यश्च दीयते—वह पतित, तो देवरको भाभीका चुभता उत्तर है—'हाँ, इन बोलों दूधके कटोरे!' अरे देवर जी, तुम्हारे बोल तो इतने मीठे हैं कि मैं तुम्हें पानी नहीं, दूध पिलाऊँगी; मुँह धोये रहो!!'

हमारे लोक-जीवनमें विनयका भी एक संस्मरण सुरक्षित है—'रानी भाभी, पानी पिला; पानी देवरके कुत्तोंको!'

प्यासा देवर भाभीसे कहता है— मेरी रानी भाभी, दो घूंट पानी पिलादो। रानीके विशेषणमें जो नम्रता है, अपनी अपेक्षा दूसरेको महत्त्व देनेकी जो वृत्ति है, उसने भाभीका मन पुलकित कर दिया और उसकी उदारताको, ममताको जगा दिया है।

वह कहती है—अरे देवर जी, पानीका क्या पिलाना, पानी तो मैं लाडले देवरके कुत्तोंके लिए भी स्वयं कुएँसे भर-खींच लाऊँ; देवर जी, तुम तो कुछ और पिओ—दूध, लस्सी, शिकंजवी, शर्बत!

मांगा था पानी, मिला चुभता ताना और मांगा था पानी, पर मिल रहा है दूध-शर्बत। झुकने और अकड़नेका यह चमत्कार है।

ओह, याद आगये मेरे बुजुर्ग दोस्त कुन्दनलाल। मेरी ही जन्मभूमिमें सुनारका काम करते थे। बड़े ही दिलचस्प आदमी थे। जब हम उनकी दुकानपर पहुँचते, वे सोने-चाँदीका कोई ज़ेवर बनाते होते और हम कहते—'कहिए, क्या बना रहे हैं भाई साहब ?'

वे अपना हथौड़ा रोक देते और राजा टोडरमलके समयका अपना चश्मा नाकसे माथेपर रखते हुए कहते—"अजीब सवाल है कि आज मैं क्या बना रहा हूँ ? अरे भाई, किसीकी बनती है नथ, किसीकी अंगूठी, किसी-का हार और किसीका कंगन, पर अपनी तो मैं दाल-रोटी ही बनाता हूँ, क्या आज, क्या कल और क्या परसों।" और तब ऐसी मीठी हँसी हँसते कि उस बुढ़ापेमें भी उनका खुबानी चेहरा कन्धारी अनार हो जाता!

अपनी ठुक-ठुकके बीच उन्होंने उर्दूमें कुछ कविताएँ भी लिखी थीं। एक शेर याद आ रहा है, पर याद धोखा दे गई, शेर कहाँ, शेरका भाव ही बस कि सुराही बहुत कीमती है, उसमें शराब भी बहुत कीमती है और वह साकीके बहुत कीमती हाथोंमें भी है—है बेशक, पर महत्त्व तो उस मामूली

प्यालेका है, जो उस सुराहीको सिर झुकाकर शराब देनेके लिए विवश कर देता है।

वही बात कि देनेसे बढकर लेनेवालेकी पात्रता है। लो, स्मृतिके आसनपर आ बैठे हैं पूज्य मदनमोहन जी मालवीय, जिनपर सदा धन बरसा। उस बार काशी-विश्वविद्यालयमें उनके दर्शन करने गया, तो बातों-बातोंमें उन्होंने कहा था—"देशके हर द्वारपर एक दाता खडा है अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोंकी है, जिनमें वह अपनी भेंट दे सके!"

मेरे उठते-उठते, आग्रहसे कहा था उन्होंने—"भूलना मत इसे।"

और बम्बई मेलके उस थर्डक्लास कम्पार्टमेण्टमें उस दिन पूज्य मालवीयजीके संदेशका परीक्षण कितना सफल रहा था?

मेलका हर डब्बा करीब-करीब 'एयरटाइट' था; बस खाली था एक डब्बा, पर इसमें चढ़ना शेरकी दाढ़से गोश्त निकालना था। स्टेशनके आते ही उसकी बन्द खिड़कीसे एक रौबीले पेशावरी पठानका चेहरा बाहर निकल आया। खिड़कीके बाहर हम सात मुसाफिर थे। खान और फौजी उस युगके शेर-साँप थे; उन्हें लाघना कठिन क्या, असंभव ही था।

खानने मुसाफ़िरोंको देखा और पूरे रौबसे कहा—"खिड़की नहीं खुलेगा।"

हम सबने समझ लिया कि ठीक ही है यह कि खिड़की नहीं खुलेगा, तो हम सात मुसाफिरोमेंसे पाँच तो उसी क्षण दूसरे डब्बेकी ओर भाग निकले। छठेने सामनेसे आते चैकरसे शिकायत की—"जनाब, ये हजरत पूरा डब्बा घेरे बैठे हैं और हमें चढ़ने नही देते।"

चैकर महोदयने अपने नये यूनीफार्मके रौबमें ज़रा डाटके स्वरमें खानसे कहा—"आप दूसरे मुसाफ़िरोंको चढ़नेसे नहीं रोक सकते; खोलिए खिडकी।"

खानने सचमुच खिड़की खोल दी और चैकरकी ओर मुसकराते हुए कहा—"ओः शाला, तुम बैठाएगा इशको? बैठाओ। जब गाड़ी चलेगा और हम इस शालाको बाहर फेंकेगा, तो तुम शाला झण्डी हिलाना।"

चैकर तो खिसका ही, वे मुसाफिर महाशय भी नौ-दो-ग्यारह हुए। खानने उन्हे आवाज देकर कहा—"ओः शाला, कहाँ जाता है? आवो ईधर, हम पूरी शीट देगा।" निमन्त्रण काफी उदार था, पर उसे स्वीकार करनेकी शक्ति उन महाशयमे न थी। वे चले, तो चले ही गये। खानने अपनी खिड़की धम-से बन्द करली।

मैं अब भी अपनी जगह खड़ा था—अपनी अटैची हाथमे लटकाये। खानने मुझे देखा, मैंने खानको। उसने क्या सोचा, मैं नही जानता, पर मैंने सोचा—'मालवीय जी महाराजका वचन है कि हर द्वारपर एक दाता खड़ा है, तो क्या यह खान भी दाता है?'

तभी खानने मुझसे कहा—"तुम नहीं गया?"

मैंने संक्षेपमे कहा—"नही खान साहब!"

"क्यों, गाड़ी में नहीं चढ़ेगा?"

"चढ़ूँगा, अगर आप प्यारसे चढाएँगे।"

"क्यों? दूसरे डब्बेमें नही चढ़ेगा?"

"खान साहब, आप एक बहादुर पठान है और बहादुर आदमीका दिल बहुत बड़ा होता है। उसमे ही जगह न मिले, तो फिर कहाँ जगह मिलेगी?"

"तुम डरता नही—हम तुम्हे नीचे फेंक देगा?"

"नही खान साहब, बहादुर आदमीके पंजे सख्त होते है, दिल मुलायम होता है। आप मुझे नीचे नही फेक सकते।"

खानने कुछ सोचा कि तभी गार्डकी सीटी बजी और हरी झण्डी हिली।

खानने खिडकी खोली और मुझे बुलाया। मैं झपटकर खिडकीपर पहुँचा कि खानने सहारा देकर मुझे भीतर ले लिया।

१८ आदमियोंके बैठने लायक उस छोटे-से डब्बेमें खान था, उसकी खूबसूरत बीवी थी और दो बच्चे थे। सबके बिस्तर बिछे थे; जैसे वे पलगपर ही हो। मैंने खानकी बीबीको सलाम किया और खानको धन्य-वाद दे, दूसरी तरफ़ बैठ गया। कुछ देर बाद धीरे-से खान मेरे पास आया और उसने मुझे दो बहुत बढ़िया सेब दिये। खाकर मजा आ गया और मैंने सोचा—"मालवीय जी महाराजका वचन सत्य है कि देशके हर द्वारपर एक दाता खड़ा है, अपनी खुली थैली लिये, पर कमी उन हाथोंकी है, जिनसे वह अपनी भेंट दे सके।"

सचमुच यह खान, जिसे हम सात मुसाफिरोंने यमदूत या जीता भूत समझा था, एक दाता ही तो था और उसकी प्यार भरी भेंट मेरे हाथोंमें थी, पर मेरी सनक देखिए कि मैं अब अपने दाताकी कसकर परीक्षा लेने पर तुल गया था।

दूसरे स्टेशनपर गाडी आकर रुकी, तो समयकी बात स्टेशन मेरी तरफ़ था। खानकी तरह मैं खिडकीसे बाहर झुक गया। तीन मुसाफिर थे—दो जवान एक बूढा। बिना खानकी तरफ देखे, जोरसे मैंने कहा—'बूढ़े बाबा, यह खान साहबका डब्बा है। उन्होंने मुझे मेहरबानी करके बैठनेकी जगह दे दी है। वह जगह मैं तुम्हे दे दूँगा और खुद खडा रहूँगा। तुम भीतर आ जाओ।" और बिना क्षणभर रुके, मैंने उन दोनों जवानोंसे कहा—"तुम्हारे लिए खिड़की नही खुलेगी, तुम कही और चले जाओ।"

तुरन्त वे दोनों चले गये और मैंने बूढेको भीतर ले, अपनी जगह बैठा दिया। मैं कुछ देर तो खिड़कीपर झुका रहा और फिर दीवारसे लगकर

खड़ा-खडा अपनी पुस्तक पढने लगा। कोई २० मिनट बाद खानने पूछा—"तुम क्यों खडा है मेरे भाई ?"

सरलतासे मैंने कहा—"खान साहब, आपने मेहरबानी करके जो जगह मुझे दी थी, वह मैंने बूढे बाबाको दे दी, लेकिन मुझे कोई दिक्कत नही है, आप आरामसे लेटिए।" खानने बिना अपनी गंभीरता भग किये, कहा—"नहीं, तुम भी बैठो।" खानको धन्यवाद देकर मैं बैठ गया।

दूसरे स्टेशनपर गाडी ठहरी, तो मैंने एक स्त्री और उसके बालकको अपनी जगह बिठा दिया और खडा हो गया। कुछ देर बाद खानकी बीबीने खानके कानमें कुछ कहा और खानने मुझे फिर बैठा दिया।

अब दोपहर भर गई थी। सोनेके लिए करवट लेते-लेते खानने मुझसे कहा—"तुम चाएगा, तो किसीको बैठाएगा, पर तुम जरूर बैठेगा—हम सोता है।"

और खान जब सोकर उठा, तो हम १२ थे। खान देखकर हँसा और बोला—"सरकार तुमको रोज बौम्बे मेलमें रखे, तो बौत मुसाफिरको आराम होगा।"

मैंने कहा—"पर खान साहब, आपको भी मेरे साथ रहना पडेगा, नही तो मुझे खाली डब्बा कहाँ मिलेगा!" खान और उसकी पत्नी इतने जोरसे हँसे कि मजा आगया।

शामको ७ बजे मै अपने स्टेशनपर उतरा, तो खानने मुझसे हाथ मिलाया और उसकी बीबीने मुझसे पहले मुझे सलाम किया।

खानकी सख्ती क्यों छूमन्तर हो गई थी ?

खान देनेको क्यों उतावला हो उठा था ?

मेरी सफलताका रहस्य क्या था ?

धूप-बत्ती; बुझी, जली !

धूपबत्ती तीन दियासलाइयोंमें क्यों न जली ?

चौथी दियासलाईके छूते ही क्यों जल उठी ?

देख रहा हूँ—धूपबत्ती झम-झम जल रही है और मेरी कोठरी उसकी भीनी सुगन्धसे भरी है। सोच रहा हूँ—यह पहली दियासलाईमें जल जाती, तो यह बात और बातमें छिपी बात मैं कैसे पाता ?

सहो मत, तोड़ फेंको !

[१]

कई साल बाद मैं अपने उन मित्रके घर गया, तो मुझे वे एक नया आदमी-सा लगे। हँसी उनमें फूट-बिखरी, तो मस्ती उठ-उभरी; चुलबुले वे इतने कि राह चलतोंसे छेड़कर बातें करें, पर अब देख रहा हूँ कि उनपर एक बोझ-सा लदा है और जैसे वे कुछ खोये-खोये-से हैं। वे हँसते हैं, तो उस हँसीमें कहीं प्राण नहीं और जी रहे हैं, तो जैसे अनमने होकर!

देखा था वसन्त, तो देख रहा हूँ पतझड़; बहुत अजीब-सा लग रहा है उनके साथ रहना, पर पूछता हूँ उनसे कि भाई, यह सब क्या है, तो कहते हैं—"कुछ नहीं, बहुत दिनमें मिले हो, तभी ऐसा लगता है, ठीक तो हूँ।" पर ठीक कहनेसे ठीक हुआ करता, तो यह दुनिया आज तक जाने कैसी हो गई होती। देख रहा हूँ कि चल तो सभी कुछ रहा है, पर चूल हिली हुई है।

"क्या मैं आपके पीछे आपकी डायरी पढ़ सकता हूँ इन तीन वर्षोंकी?" दफ़्तर जाते हुए मित्रसे मैंने पूछा, तो वे खोखली-सी आँखोंसे मुझे देखते रह गये। मुझे मालूम था वे बराबर डायरी लिखते हैं और उस डायरीमें वे खुद होते हैं, तो उसमें उनके मनका बोझ भी होगा!

मित्र बोले कुछ नहीं, अपनी दराजसे निकालकर दो वर्षोंकी डायरियाँ मेरे पास रख गये। दोपहरमें मैंने चालू वर्षकी डायरी उठाई, तो ५-७ दिन पहले पेजपर उन्होंने अपने मानसिक संघर्षका यह सार दे रक्खा था—

"देख रहा हूँ कि गंभीर होता जा रहा हूँ और जिस प्रसन्नताके सहारे

मौत जैसे मोर्चोंपर भी मैंने हार न मानी, वह बुझती जा रही है। इस तरह मैं एक धनकुबेरसे निर्धन होता जा रहा हूँ और डर है कि यह निर्धनता मुझे भिखारी न बना दे।

यह क्यों हो रहा है ?

पिछले दो वर्षोंमें मैं अपनोंके द्वारा बहुत पीड़ित हुआ हूँ। कसाई जो जानवरको क़त्ल करता है, वह उस पीड़ासे बहुत कम है। उसका प्रहार एक बार होता है, यह निरन्तर हुआ है। उस पीड़ाका प्रहारके बाद अन्त हो जाता है, यह प्रहारके बाद और भी उफनती है। फिर वह प्रहार उस मनुष्यके हाथों होता है, जिसका हित ही उस प्रहारकी सफलतामें है। यह प्रहार उन हाथों हुए कि जिनका हित मेरे जीवनके साथ नत्थी है।

क्या मैं उनसे कमजोर हूँ ?

जिनके द्वारा ये प्रहार हुए हैं, मैं उनसे कमजोर नहीं हूँ; क्योंकि वे मुझपर निर्भर हैं, मैं उनपर नहीं। फिर ? फिर क्या, मैं अपनी नम्रता और अपार स्नेहसे उन प्रहारोंको सह गया हूँ। मुझे सुख है, संतोष है कि मैंने प्रहारपर प्रहार नहीं, प्रहारपर प्यार ही किया है, पर इसमें संदेह नहीं कि ये चोटें मेरी मस्तीको चाट गई हैं।

संघर्षमें खिलने और खेलनेकी आदत रही है। कभी भय और आशंका मुझे स्पर्श भी नहीं कर पाते। संघर्ष उत्तेजना देता है और वही उत्तेजना संघर्ष लड़ती है; इस तरह थकानका पास फटकना संभव ही नहीं होता।

फिर मैं थक क्यों गया ?

मैं थक इसलिए गया कि इस संघर्षमें उत्तेजना नहीं, हीनताका धुवाँ ही चारों ओर भरा रहा। मैं कुछ कहूँगा, तो इन्हें दुख होगा, इस भावनासे मैं उस नरकको सहता रहा, जिसे वे पूरी ताकतसे उछालते रहे और इस तरह, मेरी जीवन-शक्ति कुण्ठित होती गई।

क्या इसका कोई उपाय न था ?

उपाय था असहयोग, दीनता और हीनतासे दूर हो जाना और उन्हे अपनेसे दूर झटक देना, पर स्वभावकी गहरी ममता उन्हे दुत्कार न पाई और पुचकारसे वे अपनेको सभाल न पाये। मैंने बहुत बार सद्भावनासे दुर्भावना पर विजय पाई है, पर इस बार दुर्भावना इतनी प्रचण्ड है कि मैं उसे ममताकी आँचसे पिघला न पाया और खुद ही उसमें झुलस गया हूँ।

उनपर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

देख रहा हूँ कि मेरे मिटते जानेसे उनपर प्रभाव पड़ता है, पर यह प्रभाव उन्हें उनकी हीनतासे विमुख नही करता, उल्टे प्रचंड होकर वे पूछते हैं—यह मिट क्यों रहा है ? वे उस डाक्टरकी तरह है, जो रोगको तो समझना नही चाहता, पर दवा देनेके लिए आग्रही है। वे अपनेको बदलकर मुझे पलभरमें ताजगी दे सकते हैं, पर यह शायद वे सोचते ही नही।

सोच रहा हूँ कि वे बदलेंगे या मैं ही करवट ले जाऊँगा और सीख रहा हूँ कि बहुत नम्रता एवं कोमलताका भी यह युग नही है।"

मित्रकी डायरीमें और भी बहुत कुछ था, पर मेरे लिए अब उसकी आवश्यकता न थी; क्योंकि मेरे सामने स्पष्ट था कि मित्र महाशय आत्मीयोंके आत्महीन व्यवहारसे पीडित है। यह पीडा उनके लिए असह्य है, पर वे करें क्या ? और कुछ कर नहीं पाते, तो घुल रहे हैं।

[२]

जानकारी पूरी हुई, तो जी-जानसे मुझे लिपटी। मेरे मित्र मिट रहे है और इस मिटनेमें उनकी ममता है आधार। इस तरह लगता है कि अपनोंको सहकर वे कुछ श्रेष्ठ कार्य कर रहे हैं, पर श्रेष्ठ कार्यका परिचय-संपर्क पाकर मनके भीतर जो चिकनाई आया करती है, वह नहीं आ रही और लग रहा है, जैसे यह सब कुछ शुभ नही है, सुकार्य नही है।

सहो मत, तोड़ फेंको !

मैं मित्रके कमरेमें उनके पलगपर पड़ा सोच रहा हूँ । सोचनेको कोई विशेष विचार केन्द्रमें नही है, पर वैसे विचार इतने है कि भीड़ लगी है विचारोंकी और उसमेंसे किसीको जानना-पहचानना ही मुश्किल है, तो पाना कहाँ ?

सपनोंमें कहीकी कड़ी कही मिल जाती है। मैं भी इस समय ठेठ जागरणमें हूँ, पर सपनोंसे कम नहीं। मेरे भटकते विचारोंकी कडी भी यह लीजिए जा मिली है मेरे एक पुराने मित्रके साथ।

उनमें प्रतिभा भी है और पुरुषार्थ भी। उनमे पत्रकार-कलाके गुणोंका अनुपम विकास हुआ है और वे अपना आपा उसे दे पायें, तो एक चमत्कार कर दें। अपने राज्यकी राजनीतिके वे प्रथम पुरोहितोंमें है और वे राज-नीतिमें ही समाये रहते, तो उस राज्यके मन्त्रि-मण्डलकी सदस्यता तक पहुँचते, पर हुआ यह कुछ नही और उन्नतिकी नाव एक मामूली स्कूलकी अस्थायी अध्यापकीतक ही पहुँच पाई। बाते वे भले ही सदा एक ऊँचे धरातलसे करते रहे, पर थके-थके और निचुड़े हुए, जैसे साँस चल रहे हैं और जान निकल गई। प्रतिभा यदि कोई स्थायी तत्त्व है, तो कहना चाहिए कि उनकी पैनी प्रतिभा कुण्ठित हो गई।

पत्नी अनपढ है, सो कोई बात नही, पर अनगढ है और मूर्खताका ऐसा एक भी तत्त्व नही, जो उसमें भरपूर न हो। वह जीवनमें एक ही सफलता मानती है—पैसा और इस दृष्टिसे उसका पति एक असफल मनुष्य है—एक अत्यन्त मामूली आदमी, जो परिवारको न रेशम दे सका, न मक्खन।

इन असफलताओंकी जड़में पतिकी विशेषताएँ हैं यह वह नहीं समझ सकती और नई सफलताओंके लिए आज वह नये प्रयत्न नहीं कर पाता, उसका कारण घरका निराश वातावरण है, जिसकी जननी वह स्वयं है,

यह उसे ब्रह्मा भी नही समझा सकता। नतीजा यह कि हर समय उसका विद्रोह भड़का रहता है—बकझक, ठोक-पटक, मारा-पीटी और आँसू उसके जीवन-सहचर हो गये है।

मेरे ये मित्र क्या करते है? प्रश्न जरूरी है और इससे भी जरूरी इस प्रश्नका उपप्रश्न कि वे इन सबको पत्नीका अपराध मानते है या अधिकार? यदि यह अपराध है, तो दण्ड चाहता है; भले ही यह दण्ड हिंसाका 'लात-घूँसा कमर मध्ये' हो या अहिंसाका अनशन और अधिकार है, तो यह स्वीकृति चाहता है।

सचाई यह कि आज न यह अपराध है, न अधिकार; अब तो यह उस परिवारके वातावरणका एक अग है—अनिवार्य अग, जिसे सहना है, सहे जाना है; यदि छेड़कर उसे और ज्यादा बढ़ाना न हो!

सोचनेका अवसर तब था, जब यह आरभ हुआ, पर तब मेरे मित्रने उससे टक्कर नही ली। उससे बगलगीर होनेकी, उसे सहकर शान्त करनेकी, पचानेकी चेष्टा की। निश्चय ही पत्नी समझदार होती, तो इस सहनपर नम्र पड जाती, कोमल हो उठती, पर मूर्ख थी, सो अकड गई और यहाँ तक कि लकड़ी हो गई—अब टूट सकती है, मुड नही सकती।

मैं अक्सर देखता हूँ, मेरे मित्र अपने जीर्ण-शीर्ण शरीरसे ८-१० घण्टे काम ले, शामको ५ बजे घर आते है। आवश्यक है कि उन्हे घर आते ही चाय मिल जाय, पर उन्हे कभी अगीठी जागती नही मिलती। वे कुछ कहें, तो होहल्ला मच उठे और बकझक, ठोक-पटकका समारोह आरभ हो जाय। उनकी समझदारी उन्हे सहारा देती है। वे अगीठी जलाकर चाय बनाते हैं। पीते है, पिलाते है और शामके भोजनकी तैयारीमे पत्नीको सहयोग देते हैं—इसे शान्त रहनेकी रिश्वत समझिए।

'इसका जी दुखी न हो' और 'यह किसी तरह शान्त रहे' बस इसी

धुरीपर उनकी जीवनचर्याका चक्र घूमता रहता है। दूसरोंके दिल न दुखनेका धुवाँ जैसे उन्हें घेरकर घोट रहा है।

[२]

इन मित्रकी बात पूरी हुई है, नो फिर उन्ही मित्रकी बात सामने आ गई है और यह लीजिए, दोनों मित्रोंकी बात रल-मिलकर अपनेमें एक हुई जा रही है; जैसे ये दोनों दो न होकर एक ही हों। दोनों मिलकर जैसे एक ही स्वरमे मुझसे पूछ रहे हैं—यह जो हम इतनेसमयसे अपनोंके अत्याचार चुपचाप सह रहे हैं, हमारी किसी निर्बलताका दण्ड है या ममताका यज्ञ ? और मेरे भीतर जैसे कहींसे उनके प्रश्नके उत्तरमे एक नया प्रश्न गूँज रहा है—किसीकी दुष्टता, मूर्खता या निर्बलताको सहना पाप है या पुण्य ?

प्रश्न एककी जगह दो हो गये है, पर दोसे सौ भी हो जायँ, तो क्या, प्रश्नका उत्तर प्रश्न तो नही है। मुझे समाधान चाहिए, तो पड़ा हूँ मैं मित्रके पलंगपर अपनी देहसे और जाने कहाँ-कहाँ घूम रहा हूँ अपने मनसे। घूमते-घूमते मैं अपने जीवनके एक बीते संघर्षके बीचसे निकल गया हूँ—और तब मेरे सामने आ गया है वह सूत्र, जो उस संघर्षमें एक दिन मेरे हाथ आ गया था। लग रहा है कि उस सूत्रमे इन प्रश्नोंका समाधान है।

वह सूत्र यह है—तुम जिस संघर्षमे, सहनमे, दौड-धूपमें, बाजीमें, लगनमे जुटे हो, जूझ रहे हो, वह तुम्हारे लिए ठीक है या नही, पकड़े रखने लायक है या छोड़ देनेके क़ाबिल, इसकी कसौटी यह है कि तुम यह देखो कि उस संघर्षसे, दौडधूपसे, तुम्हारी मानसिक शक्ति—भीतरी शान्ति, सन्तुलन, आनन्द और स्थिरता—बढ रही है या घट रही है ?

यदि इस प्रश्नका अपने ही भीतर, अपनेको, अपने आप दिया उत्तर है यह कि बढ़ रही है, तो हार हो या जीत, लाभ हो या हानि, तुम अपनी

जगह खड़े रहो, अपनी धुनमें जुटे रहो, हारकर भी जीतोगे, खोकर भी पाओगे, पर यदि तुम्हारी मानसिक शक्ति घट रही है, तो उस काममें लाभ ही लाभ लग रहा हो या विजयपर विजय सामने दीख रही हो, उसे तुरत छोड़ दो और इस बारेमें न किसीका परामर्श लो, न कहना मानो, बस तुरत उससे हट जाओ, उसे छोड़ दो; भले ही लोग इसके लिए तुम्हें लांछित करे, कायर कहे, तुम्हारी खिल्ली उड़ाएँ।

ऐसा लग रहा है कि मै प्रश्नोंके भँवरसे निकलकर साफ़-सुथरे तटपर आगया हूँ और वहाँसे साफ़ देख रहा हूँ कि मेरे इन मित्रोंने प्रेमसे, ममतासे, उदारतासे, दयासे, सहिष्णुतासे, बुद्धिमत्तासे जो कुछ सहा है, उससे उनकी शक्ति नही बढी है; अरे भाई, साफ़-साफ़ यह कि घटी है, तो वह सब पुण्य नही था, धर्म नही था, सुकार्य नही था।

मुझे खुशी हो रही है कि मै कुछ पा गया हूँ—कुछ कीमती चीज, कामकी चीज, निराली चीज और उस चीज़की मै जो छान-पछोड़ कर रहा हूँ, तो मेरे मनमें उभर रहा है यह पूरक सत्य—'जब अपने घरमें, जीवनमें, वातावरणमें, अपने विरुद्ध कोई प्रतिवादी तत्त्व जागे, उभरे या बाहरसे आये, तो उसके पनपते-न-पनपते स्वयं पच जानेकी भोली कल्पना न करो, उसे धो-माँजकर हो या झकझोरकर समो दो और यों सब काम छोड़कर वातावरणको शुद्ध, साफ और सम कर लो।

यह सभव है कि उस प्रतिवादी तत्त्वके विरुद्ध मनमें क्रोधकी प्रतिक्रिया उपजे और एक क्रूर आक्रमणके साथ उसे मिटा देनेकी भावना जग उठे, अपनेमें उसे मिटा देनेकी ताक़त महसूस हो, तब भी उससे बचो, यही श्रेयस्कर है; क्योंकि वृत्तियोंकी प्रचण्डता विरोधीको चोट पहुँचाये या नहीं, जिस हृदयमें वह घुमड़ती है उसे अवश्य क्षत-विक्षत कर डालती है।

यहीं यह भी—संभव है कि उस प्रतिवाद तत्त्वके सबन्धमें कोमलताकी प्रति-

क्रिया मनमें उपजे और एक नरमीके साथ उसे सह जानेकी भावना जाग उठे, अपनेमें उसे सहते रहनेकी ताकत भी महसूस हो और सफलतामें १०० फ़ी सदी विश्वास हो, तब भी उससे बचो, क्योंकि वृत्तियोंकी दीनता विरोधीको चोट पहुँचाये या नहीं, जिस हृदयमें वह पनपती है, उसे अवश्य मलीन कर डालती है।

इसलिए क्रूरता और दीनता, दोनोंसे बचो और प्रतिवादी तत्त्वको अपनेसे तोड़कर दूर फेंक दो, उससे दूर हो जाओ। उससे असहयोग कर दो; यदि सत्याग्रह करके उसे समो नहीं सकते, पचा नहीं पाते !

अपने दुःखित मित्रकी डायरी पढकर, उनके दुःखको जान-समझकर, जो कुछ सोचा है, वह सब संक्षेपमें उनसे कह दिया जाये, यह भाव मनमें जागा कि यह सूत्र बना—'दूसरेकी कमजोरीको सहना, उसे दूर करनेका उपाय करना, जीवनका उत्थान है, पुण्य है, पर इसके लिए अपनेमें कमजोरी लानी पड़े, तो यह पतन है, पाप है, अकार्य है। दूसरे शब्दोंमें किसीकी हीन वृत्तिको अपनी उच्च वृत्तियोंकी ढालपर ले लेना सत्कार्य और स्वयं ही इसके लिए हीन वृत्तियोंसे घिर जाना असत्कार्य है। साफ़ शब्दोंमें हम झुककर, मुड़कर, भले ही किसीको उठा सकें, अपना सकें, पर स्वयं गिरकर तो हम यह नहीं कर सकते !

सन्त कविने शायद इसी सत्यको अपनी भाषामें यों कहा है—"तजो रे मन, हरि विमुखनको संग !"

मैं भी लड़ा, तुम भी लड़े, पर जीता कौन ?

[१]

मेरे एक अभिन्न मित्र थे—थे इसलिए कि अब वे इस दुनियामें नहीं हैं। हम दोनों आपसमें इतने घुल-मिल गये थे कि दो होकर, दो दिखाई देकर भी, दो न थे।

दुनियाका स्वभाव है कि ऐसा मेल उसे भला नहीं लगता और इस दुनियामें ही कुछ हैं, जो मौकेकी तलाशमें रहते हैं कि कब इनके मनों खटाई पड़े।

मेरे मित्रकी पत्नी मर गई और मेरे कुटुम्बकी एक कन्याके रिश्तेको लेकर हम दोनोंमें खासा खिंचाव आ गया। मैंने कोशिश भी की, पर खिंचाव यही नहीं कि ढीला नहीं पड़ा; यह भी कि उसमें दिन-दिन तनाव आता गया। अब हमारा मिलना-जुलना और बोलचाल भी बन्द। यारोंने इसका लाभ उठाया और उन्हें अपने हाथोंमें ले लिया।

एक दिन विश्वसनीय समाचार मिला कि वे मुझपर यह दीवानी दावा करनेवाले हैं कि मैंने उनकी स्वर्गीय पत्नीका धरोहर रक्खा ३०००) का जेवर मार लिया है। सुनकर गुस्सा भी आया, हँसी भी आई।

समयकी बात उसी दिन शामके झुटपुटेमें मुझे मिल गये वे और बच-कर— आँख बचाकर—एक तरफको निकलने लगे, पर मैं क्यों चूकता। मैं उनके सामने जा टिका और कन्धे हिलाकर उनसे कहा—"अरे भाई, अभी तो दावा ही लिखा गया है, अभीसे बचकर निकलने लगे, तो आगे क्या करोगे? हमने तो यहाँतकका इरादा बाँध लिया है कि मुकदमा जमकर लड़ेंगे और तुम्हें ही जेल भिजवाकर हटेंगे, पर मित्रताका तकाजा

तो यह है कि तुम्हें जेल हो जाय, तो मैं तुम्हारी और तुम्हारी बच्चीकी खबर रक्खूँ और मुझे जेल हो जाय, तो छूटनेके दिन तुम ही दरवाज़ेपर मिलो; पर तुम तो अभीसे साथ छोड़ रहे हो!"

सुनकर उनका खून जम-सा गया। मेरा हाथ पकड़कर बोले—"घरतक चलो" और घर पहुँचते ही मेरे पैर पकड़कर रोने लगे। मैं भी रो पड़ा और संक्षेपमें बात यह हुई कि हम दोनों फिर ज्यों के त्यों एक हो गये।

[२]

मेरे एक दूसरे मित्र हैं—डबल एम० ए० और कॉलिजके प्रोफ़ेसर! नगरमें उस दिन एक सम्मेलन था। वातावरण असफलताका था, पर मेरे कहनेसे प्रोफेसर साहबने खुद शहर भरमें ऐसा रसीला ऐलान किया कि हवा बन्ध गई।

सम्मेलन सफलताके किनारे छू गया, पर जब स्वयं प्रोफेसर साहब माइकपर आये, तो एक दुर्घटना हो गई कि वे कुछ कह रहे थे और मैंने उन्हें संक्षेप करने को कहा, तो वे भड़क उठे। यह भड़क मुँह बनाकर ही न रुकी, यहाँतक मुँह चला बैठी कि मैं उनकी गालियोंका शिकार और गालियाँ भी मामूली नहीं, नम्बरी जन्नाटेदार!

लाउड स्पीकर विवेकहीन निकला और उसने उन्हें भी फैला दिया। श्रोता अप्रसन्न, तो साथी अवसन्न, पर मैंने तुरन्त उन्हें माइकके पाससे हटाकर एक सुरीले गलेकी कवयित्रीको वहाँ खड़ा कर दिया।

सम्मेलनके साथी लिपटे कि प्रोफेसर मुझसे माफ़ी माँगें। वातावरण फिरसे गरम होनेको ही था कि मैंने कहा—"जब मुझे यह अधिकार है कि मैं उसे गली-गली ऐलान करनेको कहूँ, तो उसे भी यह अधिकार क्यों नहीं

है कि गुस्सा आ जाए तो चार कड़वी बात कह ले ?" फिर यह मेरी उनकी व्यक्तिगत बात है, कोई सार्वजनिक मसला नहीं !

बात समाप्त हो गई, पर कई दिनतक मेरा मित्र प्रोफेसर मेरे पास न आया। मेरी तबियत खराब थी, इसलिए मैंने उसे एक कार्डपर ये पंक्तियाँ लिख भेजीं—

मैंने तो समझा था नखरा,
पर यह निकला गुस्सा,
नखरेपर बलि जाऊँ तेरे,
गुस्सेपर दूँ घुस्सा !
नखरा है, तब भी झट आओ,
तुमको चाय पिलाऊँगा,
गुस्सा है, तब भी आओ तो,
चप्पलसे चमकाऊँगा !

दूसरे दिन कॉलिजमें उन्हें यह पत्र मिला, तो समय काटना, कहते थे उन्हें भारी हो गया और छुट्टीका घण्टा बजते ही सीधे मेरे पास आये। मुझे पता था ही कि वे आयेंगे, तो बस आते ही उन्हें गरम चाय तैयार मिली।

वे माफ़ीकी भूमिका बाँधने लगे, तो मैंने कहा—"इस भूमिकामें क्या रक्खा है भाई, अब तो चायकी पुस्तकका रसपान कीजिए।"

चाय पीकर बोले—"उस दिन बड़ी बेवकूफ़ी हो गई भाई साहब !"

मैंने आँखें तरेरकर कहा—"किससे ?" और बस हम दोनों हँस पड़े।

[३]

उत्तर प्रदेशीय कांग्रेस कमेटीकी बैठक हो रही थी और पूज्य टण्डनजी सभापति थे। गांधी-इरविन समझौतेके दिनोंकी बात है। टण्डनजी किसी

कामसे दस मिनटके लिए बाहर गये, तो उपसभापति पं० जवाहरलाल नेहरू उनके आसनपर आ गये।

किसी रूलिंगकी बात चल रही थी और बातोंमें गरमी आ रही थी कि श्री महावीर त्यागीने एक विधान-ग्रन्थ खोलकर उनकी मेजपर रखते हुए कहा—"देखिए पेज नम्बर साठ, आप रूलिंग देनेके लिए बाध्य हैं !"

तकाजा और प्रतिवाद जवाहरलालके स्वभावको पचते नहीं। उनकी आँखें तन गई और नसोंमें बहता खून दौड़ चला—पेंसिलकी नोकसे किताबको मेजके नीचे फेंक, वे बोले—"मैं ऐसी ६० किताबें रोज लिख सकता हूँ।"

त्यागीजीने इसे अपमान माना कि उनके मुँहसे निकला—"यह सभा-पतिजीकी ज्यादती है और उधरसे वे किताब फेंक सकते हैं, तो इधरसे भी कुछ फेंका जा सकता है; मसलन'''!

धीरेसे कहे उनके अन्तिम शब्दने, जिसमें ऊ और आकी मात्रासे जुड़े सिर्फ दो ही अक्षर थे, पूरे भवनमें हड़कम्प मचा दिया और दोनों तरफके मित्र एक साथ चिल्ला उठे—माफी माँगिए-माफ़ी माँगिए।

मेज पीटनेका वातावरण सिर पीटनेके वातावरणसे भी रुद्र हो उठा कि तभी लौट आये टण्डनजी अपने दोनों कन्धोको आदतका टकोरा-सा देते हुए। अब दोनों तरफके साथी उन्हें अपना-अपना पक्ष समझानेको बेचैन कि जवाहरलालने कहा—"मेरे और त्यागीके बीच यहाँ कुछ निजी बातें हो गई है. पर मैं समझता हूँ कि यह मुनासिब होगा कि हम उस मसले-पर विचार करें, जिसपर पहलेसे कर रहे थे। मेरा खयाल है कि त्यागी भी इससे मुत्तफ़िक होंगे!"

त्यागीजी बेचारे मुत्तफ़िक न होते, तो क्या करते! मीटिंगके खत्म होनेपर कुछ लोगोंको दिमागी खाज उभरी कि उस घटनापर विचार हो,

पर तभी उन्होंने देखा कि जवाहरलालजी त्यागीका हाथ पकड उन्हे अपनी मोटरमें बैठा ले गये है।

[४]

ये हुए तीन संस्मरण, पर तीन होकर भी जैसे एक ही तो; क्योकि नाम-रूपकी भिन्नतामे भी बात तो इतनी ही है कि दो मित्र आपसमें दूध-मिश्रीसे मिले, एक दिन आ गया गुस्सा और हो गये नीम—बस दोस्ती खत्म और बोलचाल बन्द, यानी हो गई लडाई !

हाँजी; लडाई तो हो ही गई, पर प्रश्न तो यह है कि अक्ल बडी है या भैंस ? और सचमुच अक्ल ही बडी है, तो इस पहले प्रश्नमेंसे यह नया सवाल भी पैदा होगा ही कि यह क्या बात है कि जो आज मिश्री है, वे कल नीम हो जाएँ और जो एक दूसरेसे मिले बिना, आज भोजन नही पचा पाते, वे कल एक दूसरेकी सूरत देखनेसे भी बेजार हो उठे ?

यह गुस्सेकी काली करामात है और गुस्सा है आदमीकी मजबूरी। बड़े-से-बडा क्रोधी भी नही चाहता कि उसे क्रोध आये, पर वह आता है और ऐसा आता है कि आदमी भूत हो जाये !

मान गये कि आदमीको गुस्सा आयगा ही और दो मित्रोमे आपसी लडाइयाँ भी होती रहेंगी ही, इसलिए यहाँ प्रश्न यह नही है कि गुस्सा क्यो आये, प्रश्न यह है कि गुस्सा जब आ ही जाये, तो हम क्या करे ?

इस ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर पहले दो सस्मरणोमे है कि यदि दुर्भाग्यसे दो मित्रोमेंसे किसी एकको गुस्सा आ ही जाय, तो यह क्यो ज़रूरी हो कि दूसरा भी आपेसे बाहर हो ? क्या हम किसीको मैले कपड़े पहने देखकर अपने साफ कपडोपर धूल डालते है ? किसी लंगड़े या कानेको देखकर अपनी टांग तोड़ लेते या आँख फोड लेते है ?

नहीं, हम ऐसा नहीं करते ! यह ठीक भी है, तो फिर अपने मित्रको गुस्सा आ जानेपर हम स्वयं भी आग-बबूला होना क्यों जरूरी समझते हैं ?

जब हमारे मित्रको गुस्सा आता है, तो क्या यह कोई अच्छी बात होती है ? नहीं, तो फिर हम एक बुरी बातकी नकल क्यों करें ? उन्हें गुस्सा आ गया, तो आ गया, पर आप यत्न करके, उसे मित्रकी एक मजबूरी मानकर चुप रहिए, शान्त रहिए, मधुर रहिए और इस तरह अपने मित्रकी मदद कीजिए।

[५]

"और क्यों जी, जो दूसरेके गुस्सेको देखकर या बातचीतमें दूसरेके साथ ही साथ हमें भी गुस्सा आ जाए, तो क्या करें ?"

प्रश्न उचित है, आवश्यक है; क्योंकि सोच विचारकर तो किसीको गुस्सा आता नहीं। कहा नहीं कि यह तो आदमीकी एक मजबूरी है और मजबूरीपर काबू पाना अभ्यासका, साधनाका विषय है, इसलिए गुस्सा हमें भी आ ही जाए, तो हम क्या करें ?

इस प्रश्नका उत्तर तीसरे संस्मरणमें है कि गुस्सा आ गया; लड़ लिये और लड़ लिये कि बस फिर एकके एक हो गये।

गुस्सा आया, लड़ लिये और गुस्सा उतरा कि बस ज्योंके त्यों, यह एक मनुष्यका चित्र है।

गुस्सा आया लड़ लिये और गुस्सा उतरा कि एक दूसरेको मिटानेमें जुट गये, यह एक भेड़ियेकी तस्वीर है।

गुस्सा आनेपर, गुस्सेमें गाली-गलौज, मार-पीट कर लेनेपर भी आदमी आदमी ही रहता है, पर गुस्सा उतर जानेपर भी गुस्से जैसा ही व्यवहार करनेसे आदमी भेड़िया हो जाता है और जो दूसरेको गुस्सा आनेपर भी

खुद शान्त रहे, गुस्सा न करे, तो आदमी देवत्वकी ओर बढ़ने लगता है। आप आदमी हैं, उन्नति कीजिए, देवता बनिये, पर ऐसा न कर सके, तो कम से कम आदमी तो बने रहिए।

[६]

और क्यो भाई; हम आपसमे लड़ते क्यों हैं? लडाईकी पृष्ठभूमि है प्रतिद्वन्दिता और उसका उद्देश्य है दूसरेको, सामनेवालेको, प्रतिद्वन्दीको हराकर उसपर विजय पाना!

अच्छा, इस विजयकी कसौटी क्या है? मै युद्धशास्त्रकी बात नही करता, आपसी लड़ाइयोकी बात करता हूँ, जो बातों-बातोमें छिड जाया करती है।

लड़ाई मेरी भूलसे शुरू हुई या आपकी, वह हो गई, वज गई और खूब बजी। दोनोंने अपने हाथ दिखाये, किसीने कसर न छोड़ी, अब प्रश्न यह है कि तुम भी लडे, मैं भी लड़ा, पर जीता कौन?

क्या वह जीता, जिसने ज्यादा गालियाँ दी या ज्यादा हाथ मारे? ना, मै उसे विजयी माननेसे इन्कार करता हूँ और कहना चाहता हूँ कि जीता वह,जो गुस्सा उतरनेपर, शान्त होनेपर, विवेकके जागनेपर और यह सोचनेपर कि बडी बेवक़ूफी हो गई, जो गुस्सेके चक्कर चढ-घूमे, न झिझकमे पडता है, न संकोचमे और सीधा उसके घर पहुँचता है, जिससे लडाई हुई थी और कड़वाहटको मिठासमे बदलकर वातावरणको फिरसे सम कर देता है।

अपने मित्रोमे कभी अपनी ओरसे लडाईकी हवा न आने दीजिए, आपके किसी मित्रको गुस्सा आ ही घेरे, तो स्वयं शान्त रहिए, बातको तरह दीजिए, टाल दीजिए और आपको भी गुस्सा आ ही जाए तो लड लीजिए, पर गुस्सेके उतरते ही मित्रके पास पहुँचिए और चाय पीकर ही उठिए।



एक तस्वीरके दो पहलू !

[१]

मैं एक जंगली नागरिक हूँ। जंगली नागरिक कि रहता हूँ नगरमें, खाता-पीता और जीता हूं नगरमें, पर जीनेका रस मुझे मिलता है जंगलोंसे, खेतोंसे, उपवनोंसे, झीलोंसे पर्वतोंसे। जंगलमें बैठकर, प्रकृतिके साथ मिलकर, बातें करना, हँसना, खेलना मेरे जीवनका एक खास शौक है।

मेरे मित्रोंमें और परिवारमें ऐसे भी लोग हैं, जो मुझे मेरे इस स्वभावके कारण घुमक्कड़ कहते हैं और ऐसे भी, जो बातचीतमें घुमाव-फिराव पसन्द नहीं करते और सीधे-सीधे मुझे आवारा कहते हैं। उन दोनोंकी तर्क-शैली संक्षेपमें यह है—"अरे भाई, बैठना-उठना चार साथी-मित्रोंमें, यह क्या कि जंगलमें इकले जा पड़े!" उन्हें समझानेको कभी मैं कहता हूँ कि भई, जंगलमें जाकर भी जो अपनेको इकला महसूस करे, उससे अधिक अभागा कौन होगा, तो वे इस तरह हँसते हैं कि मैंने जैसे कोई एकदम पागलपनकी बात कह दी हो!

तो जंगलोंमें घूमना और यूँ कहूँ कि नित-नये जंगलोंमें घूमना मेरा स्वभाव है। उस दिन घूमने निकला, तो जा निकला बन्दरोंके बागमें। यहाँ सैकड़ों बन्दर रहते हैं। वे क्या खाकर जी-पनप रहे हैं, मैं नहीं जानता, पर हाँ मंगलके दिन नगरके दो-चार पुराने विचारोंके सज्जन यहाँ आते और इन्हें हनुमानका रूप समझ, चने और गुड़ अवश्य खिला जाते हैं। पता नहीं उन्हें उससे लोक-परलोकमें क्या फल मिलता होगा, पर यह अवश्य है कि यहाँका वानरदल न तो मनुष्योंसे द्वेष ही रखता है और न भय ही

खाता है। पालतू पशुकी तरह प्रेमके मधुर पाशमें बँधकर हिल-सा गया है।

मैं एक वृक्षकी छायामें बैठ गया और संस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढ़ने लगा। अद्भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाजभरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लासमय विश्वमें पहुँचा देती हैं। पढ़ते-पढ़ते मैं झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढ़ने लगा। देह शिथिल हो गई। आँखोंमें नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

[२]

नशा जरा ढीला पड़ा, तो मेरा ध्यान वानरदलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमें मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमें खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढ़ने लगा, तो तीसरेने उसकी पूँछ पकड़कर खींच ली। जिसकी पूँछ खींची गई थी, उसने उलटकर खींचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षपरसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोंमेंसे एकका मुँह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुँह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो-तीन बच्चोंने यह बात भाँप ली और उस बड़े बच्चेको बलपूर्वक पकड़, धरतीपर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लौटकर तड़ातड़ उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटौती भी काटी। अब वह फुदककर नीचेसे उठा और उनमेंसे एकको गुदगुदाकर फिर पेड़पर चढ़ गया। प्यारमें हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारों ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया—चारों ओर सरसता बरस-बरस गई।

[३]

एक दूसरे वृक्षके नीचे एक वानरमाता अपने दो शिशुओंको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होंगे दोनों, पर वे अपनी बालसुलभ चञ्चलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामें थे। माँ जबतक एकको चुमकारकर सुलानेका प्रयत्न करती, तबतक दूसरा उठ दौड़ता और जब वह दूसरेकी ओर दौड़ती तो पहला अपनी बालक्रीडा आरंभ कर देता। जैसे-तैसे जबतक वह एकको हाथोंमें दबोच पाती, तबतक दूसरा उसकी कमरपर चढ़, उसे धराशायी करनेके विफल, पर अत्यन्त अध्यवसायपूर्ण प्रयत्नमें जुट पड़ता। माँ अत्यन्त व्यस्त थी और यों भी कि परेशान थी, पर उसके मुखमण्डलपर झुँझलाहटका कोई चिह्न न था।

[४]

एक तीसरे तरुकी शीतल छायामें एक वानर-दम्पति पृथक् ही अपने प्रेमका वितान तन रहे थे। वानरी पैर फैलाये बैठी थी और वानर उसकी एक जंघापर अपना मस्तक रक्खे, मीठी नींद ले रहा था। उसका एक हाथ वानरीके सम्पूर्ण कटि भागको अपनेमें लपेटे था, मानो किसी ऋषिका मूर्तिमान आशीर्वाद किसी विपदग्रस्त अबलाकी रक्षा कर रहा हो। वानरीका दक्षिण हस्त किसी देवबालाके वरदहस्तकी भाँति वानरके ललाट प्रदेशपर विलसित हो रहा था। वानरके मुख-मण्डलपर सात्त्विक शान्तिकी सरल आभा सुप्त सौन्दर्यकी प्रकाशमालाके साथ छिटक रही थी और वानरीकी चमकीली एवं मादक आँखोंमें प्रोद्भासित हो रहा था प्रेमका पुण्य प्रतिबिम्ब; मानो प्रशस्त प्रकाशपूरित चन्द्रकी विमल ज्योत्स्ना-द्वारा प्रक्षालित फूलके दो सुन्दर कटोरोंमें निर्मल ओस-बिन्दु प्रोल्लसित हो रहे हों।

पुनीत दाम्पत्य महामायाकी कल्याणमयी विभूति है। पारस्परिक

प्रेमसे यह अनुप्राणित होता है और विश्वासके बलसे पाता है यह सम्बल। आत्मनिवेदनका यह सजीव चित्र है और प्रकृति-पुरुषके सम्मिलनका पुण्य प्रतिबिम्ब।

[५]

चारो ओर प्रेमका यही साम्राज्य छाया हुआ था। पशु-उपाधिवाले इस वानर-जीवनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। सोचने लगा—इनमें परस्पर कितना प्रेम है। इनका जीवन कितना सरल है। न ईर्षा, न द्वेष, न दूसरोंको गिराकर स्वयं आगे बढ़नेकी पतित भावना। प्रकृतिकी पुनीत गोदमें ये अलग ही अपनी दुनिया बसाये बैठे हैं। मैं कविके कल्पित प्रेम-जगत्से कपियोंकी इस प्रत्यक्ष दुनियाका तुलनात्मक विवेचन करता हुआ अपने घरकी ओर चल पड़ा।

मैं पहले भी कई बार यहाँ आया था, पर आजके इस निरीक्षणसे वानर-दलके प्रति मेरे हृदयमें एक प्रकारकी आत्मीयता हो आई। फलतः आज यहाँसे चलते समय मैंने हृदयमें एक मीठी कसकका अनुभव किया।

निजत्व क्या है? इसका उद्गम कहाँ है? इसमें इतना आकर्षण क्यों है? जीवनके अन्वेषणीय रहस्यसे अनुप्राणित इन प्रश्नोंका समाधान दो हृदयोंकी अनुकूलता एवं विराटके साथ सूक्ष्मकी एकत्व आकांक्षामें सन्निहित है, पर इसे हृदयकी मूक भाषा समझनेवालोंके अतिरिक्त कौन अनुभव करेगा?

[६]

मैं अपनी विचार-वाटिकामें एकाकी विहार करता हुआ धीरे-धीरे घरकी ओर आ रहा था। अचानक कहीं पास ही वानरदलकी क्रोधभरी खोंखोंने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आँखें ऊपर उठा, मैंने जो दृश्य

देखा, उसने मुझे स्तब्ध कर दिया, मैं अवाक् रह गया !

एक जालीदार गाडीमें पचास-साठ वानर बन्द थे। सभीके मुख-मण्डलपर क्रोधकी कठोरता ताण्डव कर रही थी। एक दूसरेको फाड़ खानेको तैयार था, सभी घायल थे, सभी क्षुब्ध !

गाड़ीवानने बताया—"ये सुन्दरपुरसे पकड़कर हरद्वारके जंगलोंमें भेजे जा रहे हैं।"

मेरे कहनेपर गाड़ीवानने गाडी ठहरा दी। मैं और भी पास आ, उन्हें ग़ौरसे देखने लगा।

देखा—एक वानर शिशु, जिसके सूखे मुखपर भूखकी दीनता बरस रही थी, दूध पीनेकी इच्छासे अपनी माताकी गोदकी ओर बढा, पर समीप आते ही माताने उसे नोचना प्रारम्भ कर दिया और फिर तो उसका मस्तक अपने दोनों हाथोंमें दबाकर इस तरह चबाया कि खून बह निकला, बच्चा चिल्लाया, तड़फा, पर माँके हृदयपर उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

मातृत्वके साथ पैशाचिकताका ऐसा मर्मवेधक संयोग देखनेका मुझे कभी अवसर न मिला था। मेरी अन्तरात्मा काँप उठी। मैं इससे अधिक देखनेका साहस न कर सका।

यदि सागर ही शुष्क हो जाये, उसमें ही धूल उड़ने लगे, तो अन्यत्र जलप्राप्तिकी आशा कौन मूर्ख करेगा ? मातृत्वमें भी यदि निर्दयता निवास करने लगे, तो जीवनमें किसी अन्य स्रोतसे स्नेह या सरसतावल्लरीके कुसुमित होनेकी सभावना कौन सहृदय करेगा ?

गाडीवानको प्रस्थानका संकेतकर, मैं चल पडा। दूरतक वानरोंके खॉव-खाँवका भीषण निनाद मुझे सुनाई देता रहा।

यह दृश्य मेरे पूर्व परिलक्षित दृश्यके बिलकुल प्रतिकूल था, यों कहिए—ये दोनो एक ही तस्वीरके दो पहलू थे !

मैं सोचने लगा—जो प्राणी उपवनमें प्रेमकी पुनीत प्रतिमा, सरसताकी सुन्दर निधि और स्नेहका सागर है, वही गाड़ीमें बैठकर दानवताका अवतार, क्रोधकी ज्वालामुखी एवं हृदय-हीनताकी मूर्त्ति कैसे हो गया?

हृदयमें एक हूक उठी—स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमें यही तो अन्तर है!!

जी, वे घरमें नहीं हैं !

यह भी अच्छा बहाना है, जी हाँ यह भी अच्छा बहाना है, पर अच्छा बुरा तो बादमें देखा जाएगा, पहले यह तो बताइए कि यह बहाना क्या चीज है ?

अरे, आप यह भी नहीं जानते कि बहाना क्या चीज है। इसे तो छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं। आप भी कमालके सवाल पूछते हैं भाई साहब ! मेरा छोटा पुत्र अभी छः सालका है। उस दिन वह मेरी जेबमें हाथ डाल रहा था कि अचानक बाहरसे मैं आ गया। मुझे देखते ही बोला पिताजी, देखिए आपकी जेब फट रही है, इसमें पैसे न डालिएगा, नहीं तो निकल पड़ेंगे। मैं अवाक् उस छोटेसे बच्चेकी तरफ देखता रह गया कि क्या बहानेकी पट्टी पढ़ाई है बेटेने मुझे। अब चपत मारना तो दूर, घुडकी देनेका भी तन्त बिगड़ गया और मुझे कहना पड़ा कि बेटा, अपनी मांसे कहना कि इसकी मरम्मत कर दे। बेटा जान उस समय शायद सोच रहे होंगे कि जेबकी मरम्मत तो बादमें होगी, इस समय तो हमने तुम्हारी ही मरम्मत कर दी।

यह है बहाना और आप पूछ रहे हैं कि बहाना क्या चीज है ? और हाँ, आप मुझसे यह सब क्यों पूछ रहे हैं। आप श्रीमती ज्ञानवती जीके यहाँ तो अक्सर जाते रहते हैं। वे इस कलाकी पूरी पंडित हैं। आप चाहें, तो वे इस कलापर भाषण दे सकती हैं। याद नहीं, उस दिन हम लोग उनके घर बैठे थे। उनके पतिका स्वभाव उदार है और दूसरोंको खिला-पिलाकर वे खुश होते हैं। उन्होंने धीरे-से कहा—सब लोगोंके लिए थोड़ी चाय तो बनवाओ।

सुनते ही श्रीमतीजीका दिमाग़ छछूंदर हो गया और उन्होंने ऐसी कड़वी आँखोंसे उन्हें घूरा कि जैसे उन्होंने अपनी नई शादीका ही प्रस्ताव

किया हो, पर छोटे मियाँ सो छोटे मियाँ, बड़े मियाँ सुभान अल्लाह, उनके पति भी पूरे औघड निकले और जरा जोरसे बोले—हाँ भई, चाय-वाय तो बनवाओ।

श्रीमतीजीका पारा १०५पर पहुँच गया। ठीक भी है अभी तक तो चाय ही थी अब उसमे वाय और लग गया। चायके साथ वायका मतलब है पकौड़ी!

उस दिन पार्टीमें वकील साहब भी थे। वे ऐसे मौक़ोंकी तलाशमे ही रहते हैं। अपनी दार्शनिक मुद्रामे बोले—हाँ भाई, पंडितजीका प्रस्ताव तो त्रिपुरी कांग्रेसके पन्त-प्रस्तावसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, हम लोग इसका बहु सम्मतिसे नही, सर्व सम्मतिसे समर्थन करते है।

श्रीमतीजीने देखा कि अब मामूली दवा काम नही दे सकती। उन्होंने भैयाजीकी तरफ़ देखा। भैयाजी हर घड़ी कोई न कोई गोरखधन्धा बाँध-नेमे मास्टर हैं। दोनोंमे इशारे हुए और तब श्रीमतीजीने कहा—चलिए, मै आज आप लोगोंको गुलाब रेस्टोरेन्टमे चाय पिलाऊँगी। वकील साहबने उत्फुल्ल होकर इस प्रस्तावका भी समर्थन किया और सब लोग उठ चले, पर श्रीमतीजी ऐसे रास्तेसे चली कि वकील साहबका घर रास्तेमें पड़ गया। वे सबको लिये उसमें घुस गई और उनके पुरुषार्थसे चाय-वाय ही नहीं, मामला हलवेतक पहुँच गया। वकील साहब बहुत कुलमुलाये, पर उनकी एक न चली।

यह बहानेका एक उत्तम उदाहरण है। कहिए, अब भी आप समझे या नही कि बहाना क्या चीज है?

"जी, खूब समझ गया। सचमुच आप जैसा समझानेवाला बड़े भाग्यसे मिलता है, पर ऐसा मालूम होता है कि आपकी राय यह है कि जब भगवान्‌के यहाँ बुद्धि बट रही थी, तो आप अगली पंक्तिमें थे और मैं सो रहा था।

क्या बहानेके तुक्कल उड़ा रहे हैं आप। मेरा प्रश्न यों फुर्र होनेवाला नहीं, ज़रा गहरा है। मैं पूछ रहा था कि यह बहाना आखिर है क्या चीज, पर आप क्या समझेंगे इस बातको। लीजिए, मैं ही बता रहा हूँ, आपको अपने प्रश्नका उत्तर—बहाना एक पर्दा है।"

"पर्दा? बहाना एक पर्दा है!"

"जी हाँ, बहाना एक पर्दा है, पर घूँघट या बुरकेका पर्दा नहीं; सचाई और मनुष्यके बीचका पर्दा है यह। नहीं समझे आप। समझें भी कैसे। आखिर आपकी अक्ल सीमेंटकी चादर-सी नहीं, लाल किलेकी दीवार-सी मोटी है। अरे भाई, मनुष्य जब सचाईका सामना नहीं कर पाता, तो बहानेकी, पर्देकी, आड़ लेता है।

लो, यों समझो कि रामलालने झंडासिंहसे १००रुपये हाथ उधार लिये कि ६ फरवरी को लौटा दूंगा। आज है ६ फरवरी। झंडासिंह अपने रुपये माँगने रामलालके घर आया, पर रुपयोंका अभी यहाँ प्रबन्ध नहीं। अब सचाई यह है कि रामलाल झंडासिंहसे अपनी मजबूरी कहे और कुछ समय रुकनेकी प्रार्थना करे, पर इस सचाईके सामने आते उसे आती है झेंप, तो झंडासिंहके पुकारनेपर वह कहलवा देता है—वे घरमें नहीं हैं। झंडासिंह लौट जाता है और यों रामलाल सचाईके सामने आनेसे बच जाता है। कहिए बहाना एक पर्दा है या नहीं? तो अब आई आपकी समझमें मेरी बात? सच बात यह है कि जितनी देरमें दिल्लीके चाँदनी चौकसे राजपूतानेका ऊँट गुजर आता है, उतनी देरमें आपकी समझमें बातका प्रवेश होता है। फिर भी भाई, आप आप हैं और हम हमीं हैं।

अपने मकानपर दुश्मन भी आ जाये, तो मित्र हो जाता है, यह हमारे देशका पुराना संस्कार है, पर आजकल बहुत बार यह भी होता है कि मित्र यदि अपने मकानपर आ जाय, तो वह लौटते-लौटते दुश्मन हो जाता है।"

यह कैसे ?

"कैसे इसमे क्या थी, साफ बात है। समझ लीजिए कि शर्माजी एक सार्वजनिक कार्यकर्ता है। प्रातःकाल चाय पीकर घरसे निकले थे कि ९ बजेतक लौट आएँगे और आकर खाना खाएँगे, पर आर्यसमाजके वार्षिक उत्सवके कार्यमे ऐसे उलझे कि दो बज गये। वहाँसे चले, तो नेत्र-चिकित्सा-कैम्प वालोने पकड़ लिया और यों शामको ६ बजे घरमे घुसे। आते ही श्रीमती जीका कुछ गरम और कुछ गम्भीर भाषण सुना और तब जरा पलगपर तिरछे हुए, पर अभी पूरी तरह पैर खोले भी न थे कि बाहरसे आवाज आई--शर्माजी ! उन्होंने चाहा कि वे यह आवाज न सुने, पर यह इकली हो तभी तो वे इसे न सुनें। पुकारनेवालेने और भी जोरसे कहा--शर्माजी, और तुरन्त दोहराया--अरे भाई शर्मा साहब है ?

सत्य बडी चीज है और इस समय सत्य यह है कि शर्मा साहब यहाँ हैं। इस सत्यके साथ ही यह भी सत्य है कि वे दिनभरकी सेवाओंके ही कारण बहुत थके हुए है और इसे भी ससार सत्य ही मानता है कि थके हुए आदमीको आराम करनेका, सुस्तानेका पूरा अधिकार है।

इतने सत्योंको इकट्ठाकर शर्माजीने पुकारनेवालेसे कहलाया कि मैं कल मिलूँगा आपसे, इस समय बहुत थका हुआ हूँ।

जानते है आप, क्या होगा इसके दूसरे दिन। एक जगह आप सुनेगे--अरे भाई, अब तो शर्मा साहब बहुत बड़े आदमी हो गये है। दूसरी जगह सुनाई देगा--अंगरेज तो चले गये हिन्दुस्तानसे, पर शर्मा साहब अब भी अंगरेजोंकी तरह समय निश्चित करके तब मुलाकात करते है। तीसरी जगह यह भी कि क्या ठीक है भैया, शर्मा साहबके दिमागका, अपनेको पूरा लाट साहब समझते है।

कहिए, घर आनेपर दोस्त ही दुश्मन हो गये या नही ? इस बीमारीसे

बचनेका एक ही उपाय है कि बाहरसे किसीने पुकारा कि शर्माजी है और तुरन्त श्रीमतीजीने उत्तर दिया कि जी, वे घरमें नही है। बस आनेवाले पंडितजी हों या बाबूजी, शेखजी हों या सरदारजी, खरामा-खरामा लौटते नजर आएँगे और न कहीं नाराजीका नाम, न लन्तरानियोंके लच्छे। यह बहाना भी हकीम लुकमानका ही पूरा नुस्खा है।

हाँ, नुस्खा तो यह अचूक है, पर इसमे जरा-सी सावधानीकी आवश्यकता है। मेरे पिता एक वैद्य थे। उनके पास एक रोगी आया, जिसकी आँखे दुख रही थी और दातोंमें दर्द था। उन्होंने उसे दोनोंकी दवाएँ दे दीं, पर उस मूर्खने आँखोंकी दवा तो दाँतोंमें मल ली और दाँतोकी दवा आँखोंमे डाल ली। उसे जो मजा इससे आया होगा, उसे आप खुद ही समझ सकते हैं।

यही हालत इस लुकमानी नुस्खेकी है। इसमे जहाँ जरा-सी चूक हुई कि बस गुड़-गोबर एक हुआ। बाहरसे किसीने आवाज दी कि पिताजीने अपने छोटे लड़केको धीरेसे समझाया—बेटा, कह दे कि पिताजी घरमे नही है। सरल बालक झूठ बोलना क्या जाने। वह जोरसे कहता है, मेरे पिताजी कहते है कि वे घरमें नहीं है। अब बच्चेपर पड़ रही है घुड़कियाँ, जिससे बह चले हैं उसके आँसू और घर भर गया है उसके चीत्कारसे। बाहर खड़े सज्जन इनके बारेमे जो सोच रहे हैं, वह हम भी समझ सकते है और आप भी। कहिए जरा-सी चूकने अचूक नुस्खेको बेकार कर दिया या नहीं?

एक बार एक शायर साहब अपने किसी शायर दोस्तसे मिलने गये। मकानके सामने खड़े होकर लगाई आवाज और लगे इन्तजारमें ऊपरको देखने—बेगम साहबाने दीवारके ऊपरसे जो नीचेको झाँका, तो शायर साहबने उन्हें ताक लिया। बेगम साहबा पीछे हट गईं और कहा—जी वे घरमें नहीं हैं!

शायर साहबने कहा—अच्छा हम फिर आवेंगे, पर चलते-चलते उनके दिलमें आया कि इतनी ऊँची है यह दीवार और उससे इतनी और ऊँची है हमारे दोस्तकी बीबी, तो इसका मतलब यह हुआ कि बेगम साहबा क़रीब ७ फ़ीट लम्बी हैं। शायर साहबको जो आई, फुरैरी तो एक कोयला उठाया और दीवारपर लिख मारा—

तूले शबे फ़ुरकतसे भी दो हाथ बड़ी है।

अर्थात् वह बेचैनी की रातसे भी दो हाथ बड़ी है।

उनके जानेके बाद ये शायर साहब आये, तो देखा कि दीवारपर यह लाइन लिखी है। बीवीसे पूछताछ की तो सब माजरा समझे और सोचने लगे कि आज तो यह बड़ा तगड़ा झापड पड़ा। आखिर शायर थे वे भी। आई जो फुरैरी, तो उन्होने उस लाइनके नीचे एक दूसरी लाइन यों लिखी—

वो ज़ुल्फ़ें मसल-सल जो तेरे रुख़ पै पड़ी है।

यानी बेचैनीकी रातसे भी वह जुल्फ दो हाथ बड़ी है, जो तेरे चेहरेपर लहरा रही है।

शायर साहब घूमघामकर लौटे, तो देखा कि अब एक की जगह वहाँ दो लाइनें है और उन्हे पढ़ा, तो मुसकराकर रह गये। कहनेका मतलब यह कि सब बलायें भूलके सिर; यह नुसखा अचूक है कि वे घरमें नहीं है, पर इसमें जरा-सी चूकसे बचनेकी जरूरत जरूर है।

अच्छा आप बहुत बालकी खाल निकालते हैं और बड़े खोजी बनते है, तो मेरे एक प्रश्नका उत्तर दीजिए। प्रश्न यह है कि क्या यह संभव है कि आपके घर पर कोई आपसे ही यह कहे कि आप घर पर नही हैं और आपको इसका यक़ीन आ जाए?

मैं जानता हूं आप इसपर नहीं कहेंगे और इस प्रश्नको ही बेसिर-

पैरका बतलाएँगे, पर मैं कहता हूँ कि यह सम्भव है और सौ फ़ी सदी सभव है। फिर यह कोई मैं अपनी तरफसे गढ़कर थोड़े ही कह रहा हूँ। यह तो भाई साहब, विश्व विख्यात लेखक स्वीट मार्डेनने अपनी एक पुस्तकमे लिखा है।

ओहो, इसमे शब्द-समूहोंके अम्बार खड़े करनेकी क्या बात, मेरी पूरी बात तो आप सुन लें। एक प्रोफेसर साहब बाग़मे बैठे विचारोंकी किसी गुत्थीमे उलझ रहे थे। रात गहरी हो चली, तो अपने घर आये, पर रास्तेमे भी उलझे ही रहे और घर जाकर दरवाज़ा थपथपाया, तो उलझे ही उलझे। नौकरानी नई आई थी। उसने प्रोफेसर साहबको नहीं पहचाना और ऊपरसे कहा—साहब घरमे नहीं हैं। प्रोफेसर साहबने यह सुना और सुनकर फिर बाग़मे लौट आये। वहाँ पहुँचकर विचारोंकी गुत्थी सुलझी, तो याद आया कि ओह हम तो अपने ही घर गये थे। अब सोचिए कि इस धरतीने भी कैसे अजीब-अजीब जीव पैदा किये हैं। नौकरानीने कहा कि साहब घरमें नहीं हैं और साहबने भी मान लिया कि हाँ वे घरमें नहीं हैं।"

तो, सब सकटोंसे बचनेका उपाय है घरमे नहीं हैं। घर एक क़िला है, जिसमे कोई यो ही नहीं घुस सकता। आप घरमें हैं और कहा जा रहा है कि घरमें नहीं हैं; फिर किसकी ताक़त है कि आपको घरमें बताए। नन्हें बच्चे यह सब देखते हैं और झूठ बोलना सीखते हैं। झूठकी पहली छाप यहीसे उनके मनपर पड़ती है। इसलिए यह बहाना अच्छा है, फिर भी एक राष्ट्रीय अपराध है। हमारा कर्त्तव्य है कि इसका उपयोग न करें और हमारे मित्रोंका कर्त्तव्य है कि इसके उपयोगका हमें सहारा न लेना पड़े।

झेंपो मत, रस लो !

[१]

श्रीमती विद्यावती कौशल मूढ़ेपर, हम कई आदमी अपनी कुरसियों-पर और बातचीत 'कामायनी' के घेरेमें। जाने क्या हुआ कि मूढ़ा लुढ़क गया और वे धम्मसे धरतीपर आ टिकीं; जैसे कोई बालक सड़कपर पड़े पैसेको अपने दूसरे साथियोंसे पहले दबोचनेको धरतीसे आ लिपटे !

आदमीकी आदत है कि दूसरेको बेवकूफ बनते देखता है, तो उसके फेफड़े और होंठ खिल पड़ते हैं। शायद आदमीकी इसी आदतने नाटकोंमें जोकरोंको जन्म दिया है। जोकर बेवकूफ न हो, तब भी बेवकूफ बनता है और हम हँसते हैं।

तो वे लुढ़कीं कि हम हँसे। आदमीकी आदत है कि जब किसीपर हँसे, तो उसकी आँखें देखना चाहती हैं कि जिसे हँसा गया है, वह झेंपे—खिसियाए !

हम भी हँसे, तो अनचाहते भी चाहा ही कि वे झेंपे, पर हुआ यह कि वे इकली ही हम तीन-चारसे भी ज्यादा जोरसे हँसी और अपने मूढ़ेपर आते-आते बोली—"वाह भाई, लाला लेट गये !"

अब एक अजब बात कि उनकी हँसी हमारे कानोंमें क्या गूँजी, हमारी हँसी एकदम खामोश और हम अपनेमें समाये हुए-से।

बातचीत फिर अपनी जगह ज्यों की त्यों, पर मैं सोच रहा हूँ कि हुआ क्या ? लगता है कुछ हुआ है, पर क्या हुआ है, यह नहीं लगता। मैं सोचता रहा और तब अचानक हाथ आया यह सूत्र—'भूल हो जाए, बेवकूफ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमें रस लो !'

[२]

मुझे याद आ गई, अपने ही पिछले जीवनकी एक घटना। नहाकर उठा, तो बनयान मैला और मैला बनयान पहननेका मतलब हुआ मैला मन।

"प्रभा जी, साफ़ बनियान दो !" मैंने पत्नीसे कहा, तो मजबूरी सामने आई—"कल सोचा था, कपड़े धोऊँगी, पर तबियत खराब हो गई। पहन लो अब तो इसे ही; दोपहरको दूसरा बदल लेना।" पर देह उसे अपनेमे लेनेको तैयार न हुई—"ना-ना यह नही, साफ़ बनियान दो !"

उन्हे सूझी मजाक—मजाककी तो बात ही है कि रईस-आजमके घरमे कुल दो बनियान और माग रहे हैं तीसरा। वे अपना खादी-छींटका धुला जम्फर ले आई-"लीजिए हाज़िर है !"

इस मजाकमे मुझे कोई मजाक न लगा—कुरतेके नीचे जैसा बनियान वैसा जम्फर। मैंने उसे गले डाला और विद्यालय चला गया, पर अभी रघुवंशका पाठ आरम्भ ही किया था कि ससुरालका तार—"पहली गाड़ीसे आइए !"

पाठ बन्द और मैं स्टेशनपर। स्टेशनसे गाड़ीमे और गाड़ीसे ससु-रालके द्वार—**श्वसुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्**—तो साक्षात् स्वर्गमे। आवभगत हुई, छोटे सालेके सम्बन्धकी बात है, यह बैठते-बैठते सुना, पर दशहरेके दिन कि सुबह ठण्डी फुरैरी, तो दोपहरको गुर्राती-सी धूप। मनमें चाह, हाथोंका सहारा, दिमाग़ बातचीतमे, बस कुरता उतारा और खूँटीपर उसे लटका, जो फिर कुरसीपर, तो हा-हा, हू-हू और 'वाह क्या कहने' के साथ बड़े साले साहबका यह रिमार्क भी कि—'बस साड़ीकी कसर है पण्डितजी !'

बात कुछ नही, वही जम्फरका मामला और मैं झेंपकी रमकमें।

सोचा कुरता पहन लूँ, पर चिड़ियाके उडनेपर निशाना साधनेसे लाभ, बस मैं अपने आपमें स्वस्थ और हँसतोंके नेता अपने वडे साले साहबपर यह करारा वार—"जनाब, हजार आदमियोंके सामने आपने अपनी बहन-का हाथ मेरे हाथोंमें दिया था। फिर मैंने उनका जम्फर एक दिनके लिए ले लिया, तो आप पुलिसमें रपट क्यों लिखा रहे हैं!"

हँसी करवट मारते पूरबसे पच्छिमकी ओर और साले साहब अब एक ठहाकेके सामने; जैसे तोपका मुँह उन्हें देख रहा हो। बस वे लड़खड़ाये कि यही एक और चोट—"क्यों साहब, मैं उनका जम्फर छुऊँ, इसमें आपको कुछ ऐतराज है क्या?"

ओह हो, एक और जोरदार ठहाका—दीवारोंको हिलाता-सा और झेपका रुख मेरी तरफ़से मुँह मोड़े उन्हे अपनेमें घेरे-घेरे!

वही बात कि भूल हो जाए, बेवक़ूफ बन जाओ, तब भी झेंपो मत—उसमें रस लो। झेप दूसरी तरफ मुड जायगी और आप उससे साफ बच जाएँगे।

[३]

बात 'कामायनी' पर ही चलती रही और मैं सोचता रहा। तभी मुझे याद आ गये पण्डित कमलनाभ। वे दो बार जिला बोर्डके मेम्बर रह चुके थे। तीसरी बार वे फिर खड़े हुए। इस बार मुक़ाबला एक धनी और प्रभावशाली आदमीके साथ था। साथ ही अपने इलाकेमें उसने बराबर कई सालसे कोशिशें की थीं। इधर पण्डितजी पुराने पत्ते हो चले थे, उधर वह उगता सूरज था।

पहले ही रेलेमें पण्डित जी हारमें थे और उनका विरोधी हारोंकी उम्मीदमें। मैं चुनावका इन्चार्ज था, इसलिए साढ़े दस बजे ही मैं झेप चला।

पण्डितजीसे बचते-बचाते मैंने कहा—जब १०॥ बजे ही १॥ बज रहा है, तो १॥ बजे क्या होगा ?"

चिन्ता तो उन्हें भी थी, पर निश्चिन्त हो बोले—"तुम १॥ बजेकी बात मुझपर छोड़ो और एक काम करो कि इण्टरवल होनेसे पहले जितनी मालाएँ बनवा सको, बनवा लो और छुट्टी होते ही मैं ज्यों ही बाहर आऊँ कि लाउड स्पीकर मुझे पेड़के नीचे मिले। मैं सीधा उसपर आऊँगा और तुम वे सब मालाएँ मुझे पहना देना।"

"क्या मतलब ?" मैंने चौंककर पूछा, तो रोककर बोले—"मतलब कुछ नहीं, जाओ मालाएँ बनवाओ—एक रुपयेमें एक फूल मिले, तब भी मत चूकना !"

यह बजी घण्टी, हुआ इण्टरवल और वे खड़े हैं पण्डितजी पेड़के नीचे माइकपर। गला मालाओंसे लदा और पण्डित जी खिले-हँसते। क्या है ? क्या हुआ ? भीड़ उनके चारों ओर और पण्डित जी कह रहे हैं—"भाइयो ! मैं आज लाजसे गड़ा जा रहा हूँ। आपने मुझे पहले दो बार बोर्डका मेम्बर चुना। पिछले साल मैं लापरवाह रहा, ओहदेके नशेमें डूबा रहा, आपकी खिदमतमें भी लापरवाही मैंने की और बहुतसे भाइयोंके साथ गरम-सरद भी बोला। मुझे उम्मीद थी कि इस बार आप मुझे ठुकरा देंगे, पर आप बड़े हैं और बड़ोंकी बात भी बड़ी होती है। आपने आज मुझे तीसरी बार फिर मेम्बर चुन दिया। आपकी मुहब्बतमें मैं दबा जा रहा हूँ।

सुना था परमेश्वर दयालु होता है, तो छप्पर फाड़कर देता है। आज मैंने खुली आँखों देख लिया कि पंचपरमेश्वरने मेरी भूलोंको भुलाकर फिर तीसरी बार ये मालाएँ मेरे गलेमें डालीं।

पंचो, मैं आपके सामने सिर झुकाता हूँ और क़सम खाता हूँ कि अब

घरका अपना कोई काम नही करूँगा और पूरा समय आपकी सेवाके ही कामोंमें लगाऊँगा।"

पण्डितजीने ज़ोरसे कहा—बोल, पंच परमेश्वरकी जय, पच परमेश्वरकी जय, पंच परमेश्वरकी जय और अपने गलेसे माला उतारकर उन्होने बड़े-बूढ़ोंको १-१ पहना दी!

घण्टी बजी और बस घण्टी ही बज गई। अपना तो अपना था ही, गैर भी अपना हो गया। जो वोट आया, पण्डितजीके बक्सेमें और जो वोट आया पण्डितजीके बक्सेमे। जीततेका जग साथी, हारतेका बेटा नही, कौन अपना वोट पानीमे फेकता—पण्डितजी एक हजार वोटसे जीते और विरोधीने कहा—"वसीयत करके मरूँगा लडकोंके नाम कि कभी चुनाव न लड़े!"

वही बात कि पण्डितजी झेपे नही और हारको जीतमें बदल ले गये।

[४]

■ क्यों जी, रपट पड़नेपर आदमी झेंपता क्यों है?

■ इसलिए कि दूसरोंकी नजरोंमे अपनी हीनता, कमी, लघुता और हारका भाव उसके मानसको घेर लेता है।

■ और क्यों जी, किसीके रपट पड़नेपर हम हँसते क्यो है?

■ इसलिए कि उसकी असफलतामें अपनी सफलता, उसकी कुरूपतामे अपना सौंदर्य और उसकी हारमें अपनी जीतका उल्लास हमारे मानसपर छा जाता है।

■ और बस यही वह प्रश्न, जो इस सारे मामलेको उधेडकर हमारे सामने रख देगा—जब कोई रपट पड़नेपर भी नही झेंपता, तो हमारी उठ-उभरती हँसीका फ़व्वारा आप ही आप क्यों दुबक जाता है?

■ इसलिए कि दूसरोंको हमपर हँसनेका मौक़ा तब आता है, जब हम

अपनी आँखोंमें हल्के हो जाएँ! सुधारक और अग्रगामी संसारमें मूर्खों द्वारा सदा लांछित हुए हैं, पर वे अपनी आँखोंमें हल्के नहीं हुए, इसीलिए यह लाछना उन्हे लांछित नही कर पाई और एक दिन अपने प्रति उनका यह सम्मान दूसरोंके मस्तकोंको अपने चरणोंमें झुका सका।

बात अब भी 'कामायनी' पर चल रही थी और मैं सोच रहा था।

पापके चार हथियार !

जार्ज बर्नार्ड शॉका एक पैराग्राफ पढ़ा है। वह उनके अपने ही सम्बन्धमें है, "मै खुली सड़कपर कोड़े खानेसे इसलिए बच जाता हूँ कि लोग मेरी बातोंको दिल्लगी समझकर उड़ा देते हैं। बात यूँ है कि मेरे एक शब्दपर भी वे गौर करें, तो समाजका ढाँचा डगमगा उठे।"

"वे मुझे बर्दाश्त नही कर सकते, यदि मुझपर हँसे नही। मेरी मानसिक और नैतिक महत्ता लोगोके लिए असहनीय है। उन्हें उबानेवाली खूबियोंका पुज लोगोके गलेके नीचे कैसे उतरे? इसलिए मेरे नागरिक बन्धु या तो कानपर उंगली रख लेते है या बेवकूफीसे भरी हँसीके अम्बारके नीचे ढक देते है मेरी बात।"

शॉके शब्दोमे अहकारकी पैनी धार है, यह कहकर हम इन शब्दोंकी उपेक्षा नही कर सकते; क्योंकि इनमें ससारका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य कह दिया गया है।

ससारमे पाप है, जीवनमे दोष, व्यवस्थामे न्याय है, व्यवहारमे अत्याचार और इस तरह समाज पीड़ित और पीड़कके वर्गोमे बँट गया है। सुधारक आते है, जीवनकी इन विडम्बनाओंपर घनघोर चोट करते है। विडम्बनाएँ टूटती-बिखरती नजर आती है, पर हम देखते है कि सुधारक चले जाते हैं और विडम्बनाएँ अपना काम करती रहती हैं।

आखिर इसका रहस्य क्या है कि ससारमे इतने महान् पुरुष, सुधारक, तीर्थंकर, अवतार, सन्त और पैगम्बर आ चुके, पर यह ससार अभीतक वैसाका वैसा ही चल रहा है। इसे वे क्यो न बदल पाये? दूसरे शब्दोंमें जीवनके पापों और विडम्बनाओके पास वह कौन-सी शक्ति है, जिससे वह

सुधारके इन शक्तिशाली आक्रमणोको झेल जाते है और टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर नही जाते ?

शॉने इसका उत्तर दिया है कि मुझपर हँस कर और इस रूपमे मेरी उपेक्षा करके वे मुझे सह लेते है। यह मुहावरेकी भाषामे सिर झुकाकर लहरको ऊपरसे उतार देना है।

शॉकी बात सच है, पर यह सचाई एकांगी है। सत्य इतना ही नही है। पापके पास चार शस्त्र है, जिनसे वह सुधारके सत्यको जीतता या कमसे कम असफल करता है। मैंने जीवनका जो थोड़ा बहुत अध्ययन किया है उसके अनुसार पापके यह चार शस्त्र इस प्रकार है :—

उपेक्षा, निन्दा, हत्या और श्रद्धा।

सुधारक पापोंके विरुद्ध विद्रोहका झण्डा बुलंद करता है तो पाप और उसका प्रतिनिधि पापी समाज उसकी उपेक्षा करता है, उसकी ओर ध्यान नहीं देता और कभी-कभी कुछ सुन भी लेता है, तो सुनकर हँस देता है; जैसे वह किसी पागलकी बड़ हो, प्रलाप हो। इन क्षणोंमे पापका नारा होता है—"अरे, छोड़ो इसे और अपना काम करो।"

सुधारक सत्य उपेक्षाकी इस रगड़से कुछ तेज होता जाता है, उसके स्वर अब पहलेसे कुछ पैने हो जाते है और कुछ ऊँचे भी।

अब समाजका पाप विवश हो जाता है कि वह सुधारककी बात सुने। वह सुनता है और उसपर निन्दाकी बौछारें फेंकने लगता है। सुधारक सत्य और समाजके पापके बीच यह गालियोंकी दीवार खड़ी करनेका प्रयत्न है। जीवनके अनुभवोंकी साक्षी है कि सुधारकके जो जितना समीप है, वह उसका उतना ही बड़ा निन्दक होता है। यही कारण है कि सुधारकोंको प्राय: क्षेत्र बदलने पड़े है। मुहम्मदको मक्कासे मदीना इसीलिए तो जाना पड़ा था !

इन क्षणोंमे पापका नारा होता है—

"अजी बेवक़ूफ है, लोगोंको बेवकूफ बनाना चाहता है।"

सुधारकका सत्य निन्दाकी इस रगड़से और भी प्रखर हो जाता है और अब उसकी धार चोट ही नहीं करती, काटती भी है।

पापके लिए यह चोट अब धीरे-धीरे असह्य हो उठती है और वह बौखला उठता है। अब वह अपने सबसे तेज शस्त्रको हाथमें लेता है। यह शस्त्र है हत्या।

सुकरातके लिए यह ज़हरका प्याला है, तो ईसाके लिए सूली, दयानन्दके लिए यह पिसा काँच है, तो गांधीके लिए गोली।

इन क्षणोंमे पापका नारा होता है—"ओह, मैं तुम्हें खिलौना समझता रहा और तुम साँप निकले, पर मैं साँपको जीता नहीं छोड़ूँगा—पीस डालूँगा।"

सुधारकका सत्य हत्याके इस घर्षणसे प्रचण्ड हो उठता है। शहादत उसे ऐसी धार देती है कि सुधारकके जीवनमें उसे जो शक्ति प्राप्त न थी, अब हो जाती है। सूर्योंका ताप और प्रकाश उसमें समा जाता है, बिजलियोंकी कड़क और तूफानोंका वेग भी।

पाप काँपता है और उसे लगता है कि इस वेगमें वह पिस जायगा—बिखर जायगा। तब पाप अपना ब्रह्मास्त्र तोलता है और तोलकर सत्यपर फेंकता है। यह ब्रह्मास्त्र है श्रद्धा।

इन क्षणोंमे पापका नारा होता है—

"सत्यकी जय, सुधारककी जय!";

अब वह सुधारककी करने लगता है चरण-वन्दना और उसके सत्यकी महिमाका गान और बखान।

सुधारक होता है करुणाशील और उसका सत्य सरल विश्वासी।

वह पहले चौंकता है, फिर, कोमल पड जाता है और तब उसका वेग पड़ जाता है शान्त और वातावरणमें छा जाती है सुकुमारता।

पाप अभीतक सुधारक और सत्यके जो स्तोत्र पढ़ता आ रहा था, उनका करता है यूँ उपसंहार—"सुधारक महान् है, वह लोकोत्तर है, मानव नहीं; वह तो भगवान् है, तीर्थंकर है, अवतार है, पैगम्बर है, सन्त है। उसकी वाणीमे जो सत्य है, वह स्वर्गका अमृत है। वह हमारा वन्दनीय है, स्मरणीय है, पर हम पृथ्वीके साधारण मनुष्योंके लिए वैसा बनना असम्भव है, उस सत्यको जीवनमे उतारना हमारा आदर्श है, पर आदर्शको कब कहाँ कौन पा सकता है?"

और बस इसके बाद उसका नारा हो जाता है—"महाप्रभु सुधारक वन्दनीय है; उनका सत्य महान् है; वह लोकोत्तर है।"

यह नारा ऊँचा उठता रहता है, अधिकसे अधिक दूरतक उसकी गूँज फैलती रहती है, अधिकसे अधिक लोग उसमे शामिल होते रहते है, पर अब सबका ध्यान सुधारकमे नही, उसकी लोकोत्तरतामें समाया रहता है; सुधारकके सत्यमे नही, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अर्थों और फलितार्थोंके करनेमें जुटा रहता है।

अब सुधारकके बनने लगते है, स्मारक और मन्दिर और उसके सत्यके ग्रन्थ और भाष्य।

बस यही सुधारक और उसके सत्यकी पराजय पूरी तरह हो जाती है।

पापका यह ब्रह्मास्त्र अतीतमें अजेय रहा है और वर्तमानमें भी अजेय है। कौन कह सकता है कि भविष्यमे कभी कोई इसकी अजेयताको खण्डित कर सकेगा या नही?

जब मैं पंचायतमें पहली बार सफल हुआ !

पास-पड़ौसकी एक दूकानका उद्‌घाटन था। दूकान क्या, एक पूरी कम्पनी ही है। सब लोग एकत्रित हुए। मैं भी पहुँचा, तो देखा कि ऊँची कुरसी मेरे लिए खाली है और उद्‌घाटन मुझे करना है। मैंने सब मनुष्यों-पर एक नज़र डाली, तो सब युवा थे। तभी आ गये एक रिटायर्ड इंजी-नियर महोदय!

मित्रोंको मैंने धीरेसे कहा—बाबूजीसे कराइये उद्‌घाटन, तो सब एक साथ मेरे ही लिए चिल्ला-से पड़े—नहीं, नहीं, आप!

मैं कुरसीके पास गया और कहा—हमारी सभ्यताका मूलमन्त्र है मर्यादा। इस मर्यादामें युवकोंका अधिकार है सेवा और वृद्धोंका आशीर्वाद। प्रसन्नता है कि हमारे बीचमें एक वृद्धजन हैं। सबकी ओरसे मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इस शुभ कार्यका उद्‌घाटन करें और आशीर्वाद दें। अपने युवा साथियोंसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे उस आशीर्वादको नम्रताके साथ सिर-आँखों ग्रहण करें।

मैंने देखा कि सारा वातावरण एक सात्त्विक आह्लादसे भर गया। बाबूजीने उद्‌घाटन किया, आशीर्वाद दिया और कार्य समाप्त हुआ, तो चलने समय मुझे अपनेसे लिपटा लिया—मेरे लिए यह बड़ी चीज़ थी।

श्रीराम शर्मा 'प्रेम' साथ थे। रास्तेमें बोले—"आज मैंने आपसे कुछ सीखा।" मैंने पूछा—क्या, तो बोले—"यह कि मनुष्य पद-प्रतिष्ठा और दूसरी ऐसी ही चीज़ोंके पीछे दौड़कर सफलताके स्वप्न देखता है, पर वास्तवमें सफलता इनसे मुँह मोड़कर चलनेमें है। अक्सर यह होता

है कि हम पानेमे खोते हैं और खोनेमें पाते हैं, पर कुछ ऐसा भ्रमजाल चारों ओर छाया है कि हम इस सचाईको पकड़ नहीं पाते । आज आप उस कुरसीपर स्वयं बैठकर उद्घाटन करते और उपस्थित मनुष्योंके हृदयोंमें ५० डिग्रीका मान पाते, तो अब आप उस पर किसी दूसरेको बैठाकर सच कहता हूँ, १०० प्रतिशत मान पा गये।"

मैंने कहा—"तुम्हारा दृष्टिकोण ठीक है, मैं बरसों पहले ही यह बात समझकर गाँठ बाँध चुका हूँ, पर आज तो मैंने किसी दूसरे ही कारण या दृष्टिकोणसे ऐसा किया है।"

उत्सुक हो श्रीराम भाईने पूछा—"वह भी समझाइये।" मैंने कहा—समाजमे वृद्ध भी हैं और युवक भी। दोनोंकी मनोवृत्तियोमे अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन युगमे जो आश्रम-व्यवस्था थी, वह इसका सर्वोत्तम इलाज था। युवक पुत्रने जहाँ घर सम्भाला कि वृद्ध जी वाणप्रस्थी हुए और जहाँ पुत्र पूर्ण प्रबन्धक हुआ कि वे सन्यास लेकर वनकी राह लगे। आज दोनो साथ है और इसीलिए हर एक घरमे घोर संघर्ष है और इस संघर्षका उपाय है—सम्मिलित परिवारकी समाप्ति। मैं सम्मिलित परिवारके घोर विरुद्ध हूँ, पर सम्मिलित-परिवार संस्थाको समाप्त करके भी यह प्रश्न पूरा नहीं सुलझता, क्योंकि फिर भी घरमे न सही समाजमें तो दोनो रहेंगे ही—संघर्ष घरोंसे निकलकर समाजके आंगनमें खुल-खेलेगा। खेल ही रहा है आज।"

"फिर उपाय क्या है?" श्रीराम भाईने पूछा।

मैंने कहा—"उपाय है दोनोकी मनोवृत्तियोंका अध्ययन कर दोनोके मध्य मर्यादाकी रेखा खीचना। वृद्धमें अनुभव है, युवकमें साहस। पहला सोचता है—इसे अभी क्या पता संसारका और दूसरा सोचता है—मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। दोनों ही अपनी ओर देखते है, दूसरेकी ओर नही

अपने अनुभवोकी छायामे वृद्ध चाहता है कि युवक उसकी आज्ञाका पालन करे। वृद्धत्वकी सबसे बड़ी आकांक्षा है झुका हुआ सिर देखना। उसकी आँखे नत शिर और विनत स्कन्ध देखना चाहती है और उसके कान सुनना चाहते हैं केवल एक वाक्य—जैसी आपकी आज्ञा!

आँखे खोलकर चलनेके कारण अपने सार्वजनिक जीवनके आरंभमें ही मैंने समझ लिया था कि नत शिर और विनत स्कन्ध देखने और 'जैसी आपकी आज्ञा' सुननेके बाद ६५ प्रतिशत वृद्धोमें शेषके प्रति कोई जिद नहीं रहती और इतना उन्हें न मिले, तो फिर वे किसी भी निर्णयके लिए तैयार नही होते, क्योंकि उस समय प्रश्न तर्क और औचित्यके राजपथसे उतर, जिद और अहंकारकी झाडियोंमे उलझ जाता है।"

असलमे यह तत्त्व १६३१में हाथ लगा। कस्बेकी एक कन्या उस समय गर्भवती थी, जब उसका विवाह हुआ; इसलिए द्विरागमन होनेसे पहले ही उसके पुत्री हुई। बात खुल गई और लड़केवालोने द्विरागमन करनेसे इकार कर दिया। एक दिन मैंने उस कन्याको देखा। अत्यन्त भोली, सात्त्विक और सजीदा। मैं उससे मिला। वह भूलपर दुखी थी और इस बातके लिए तैयार न थी कि उसका कही और दूसरा विवाह किया जाये। मुझपर इस बातका प्रभाव पड़ा और मैंने प्रयत्न करनेका निश्चय कर लिया।

तीन महीनोंके प्रयत्नोंसे लड़केवाले उस कन्याको लेनेके लिए तैयार हो गये, पर शर्त यह कि मेरे नगरके लोग—ब्राह्मण पचायत—सार्वजनिक रूपमें, उन्हे यह आदेश दें कि वे इसे ग्रहण करे। शर्त कठिन थी, पर उचित। मैंने उद्योग आरंभ किया, ५ वृद्ध-पंचोंको मनाना कठिन था और शेष लोगोंसे पंचायतमे हाथ उठवाना सरल, इसलिए मैंने अलग-अलग पचोसे मिलना आरम्भ किया।

मैंने यह भूमिका तैयार की कि बातचीत इससे ही आरभ करूँगा—

अब मैं पंचायतमें पहली बार सफल हुआ !

"लडकी बडी गऊ है, जरा-सी भूलमे मारी गई। आप समाजकी नस-नसको पहचानते हैं, सारी उमर बुरा जीवन बिताएगी—ये इतनी वेश्याएँ यों ही तो बढ़ी है। आप आज्ञा दे, तो इसे इसके घर पहुँचा दे, पर यह आपकी पूरी शक्ति लगाये बिना संभव नही। बात यह है कि आप तो युगको पहचानते हैं, पर ज्यादातर लोग अभी अन्धेरेमे ही पड़े हैं। हाँ, आपका इतना प्रभाव है कि आप पचायतमे बोल पड़े, तो फिर कोई साँस नहीं ले सकता। यह गऊ अपने खूंटेसे बन्ध जायगी। एक बात है कि यह सारे समाजका मामला है। हम लोग तो अभी बालक हैं, ठीक समझते नही। आपका अनुभव विशाल है। आप आज्ञा दे, तो बात चलाई जाय, नही तो यहीं खत्म !"

बातचीत चलाई गई और पचायतमें प्रस्ताव इतने जोरोंसे पास हुआ कि सबके लिए आश्चर्य-जनक ! तबसे मैंने सीखा कि वृद्धोका यदि हम मान रक्खे, तो वे हमे कर्मकी स्वतन्त्रता दे देते हैं। वृद्धोंके अहकारपर कभी आक्रमण मत करो, यह समाज-सुधारका पहला मन्त्र मैंने याद कर लिया और फिर तो वृद्धोंका मान मेरा स्वभाव ही हो गया। अब तो मुझे बडोंके सामने, उनका आदेश पाकर भी ऊपर बैठते संकोच होता है। मेरे लिए अब यह कोई टैक्ट नही, सस्कार हो गया है और मैं तो चाहता हूँ कि हरेक युवकमे यह सस्कार हो।

मैं पशुओं में हूँ,
पशु जैसा ही हूँ,
पर पशु नहीं हूँ!

जिज्ञासा

स्वतन्त्र भारतके केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित साहित्य-संस्कृति-संगमका उद्‌घाटन दिल्लीके लाल किलेमें महामहिम राष्ट्रपति-द्वारा हो चुका, तो प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू संस्कृतिपर बोलनेको माइक पर आये।

उनके भाषणका पहला वाक्य लगभग यह था—"आप जानते हैं कि मुझे तो संस्कृति-कल्चरके मामलोंमे बहुत दिलचस्पी है, पर मुसीबत तो यह है कि इस मसलेपर मैं ज्यों-ज्यों गौर करता हूँ, आलिमों-विद्वानोंसे मिलता हूँ या उनकी किताबें पढ़ता हूँ, उलझता जाता हूँ।"

नेहरूका यह वाक्य सुनकर मैं अपनेमें ऐसा उलझ गया कि मुझे नहीं मालूम फिर आगे उन्होंने क्या कहा। सहसा मुझे याद आ गई अपने ही जीवनकी एक घटना। मेरे नगरका विशाल तालाब है देवीकुण्ड। उसमें तैरते-डुबकियाँ लेते मैं पला-पनपा, पर उस दिन तैरते-तैरते कमल-वनमें जा घुसा, तो लगा कि अब लौटना असंभव है।

हाथों और पैरोंमें कमलकी नालें इस तरह लिपटीं कि एकसे छूटूँ, तो दोमें उलझूँ और दोसे छूटूँ, तो चारमें और बस छूटने-उलझनेकी कशम-कशमें हालत यह हो गई कि मकड़ीके मायाजालमें फँसी मक्खीसे मैं अपनी

उपमा दे सकूं। अपने प्रिय नेहरूकी उलझन मुझपर कुछ इस तरह छा गई कि लगा मैं इस समय भी उसी कमल-वनमें उलझा हुआ हूँ।

नेहरूके बाद आसफअली आये और उन्होंने विनयको ही संस्कृति कहा, तो काका कालेलकरने संस्कृतिके नामपर शुद्धि, समृद्धि, सामर्थ्य और समाधानकी चर्चा की और इस तरह दो दिनोंतक वर्चस्वी विद्वानोंके भाषण सुनकर सचमुच स्वय मेरी भी हालत नेहरू जैसी ही हो गई कि कहूँ—पर मुसीबत तो यह है कि मैं इस मसलेपर ज्यों-ज्यों ग़ौर करता हूं, आलिमो-विद्वानोंसे मिलता हूँ या उनकी बातें सुनता हूं, उलझता जाता हूं।

सोचा——आखिर यह सस्कृति है क्या कि जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नही रहता, पर मानवकी अनिवार्यता होकर भी वह ऐसा गूढ तत्त्व कि उसकी आँख-पूंछ तो हरेक देखता है, पर उसकी पूर्णताके दर्शन—उसका स्पष्ट ज्ञान—किसीको भी सुलभ नही?

अजीब उलझन है और उलझनका तकाजा है कि उसे सुलझाया जाय, पर यह सुलझे कैसे? उलझनको सुलझानेका मेरा अपना तरीका यह है कि जब सुलझाते-सुलझाते बुद्धि उलझने लगे, तो मैं उसे अपने अन्तर्यामीको सौंपकर सो जाता हूँ। बस संस्कृतिकी उलझन भी मैंने अपने अन्तर्यामीको सौंपी और निश्चिन्त हो गया।

कोई १४ महीने बाद देवप्रयागके पर्वतोंकी गोदमें अलखनन्दा और गगाके संगमपर बैठे-बैठे मुझे अन्तर्यामीके बोल सुनाई पड़े। नम्र हो, मैंने उन्हें भाषामें बांध लिया।

स्वरूप

वे बोल कुछ इस तरह थे—मनुष्य जाने कब जगलोंमें जन्मा और पनपा-पला। जगलकी उस जन्मभूमिमें मनुष्यके साथी थे जगली जान-

नर—शेर, चीते, हाथी, भालू, भेड़िये और अजगर। वह उन्हींकी तरह शिकार करता-खाता, उन्हींकी तरह लड़ता-मरता। उन्हींकी तरह शरीरकी दूसरी माँगे पूरी करता, उन्हींकी तरह रहता-सहता और जैसे वे थे, वैसा वह था—उन्हींमे एक!

यो ही युग बीत गये।

वह जगलमे जगली जानवरोंकी तरह, जंगली जानवरोंके साथ, जीता-मरता रहा। पंजे ही उसकी शक्ति, इच्छा ही मार्ग-दृष्टि और यो वह निर्द्वन्द, अल्हड़ और मस्त—दो पैरोका एक चौपाया!

जाने कब, कैसे, और क्यों उसने दूसरे जानवरोकी ओर देखा और फिर अपनी ओर। जाने कबतक, कितने युगोतक वह यो ही कभी उन्हे और कभी अपनेको देखता रहा।

देखते-देखते वह कुछ सोचने लगा। जाने कितने युगोतक वह क्या-क्या सोचता रहा और तब उसके अन्तरमे एक पुकार उठी—मैं पशुओंमें हूँ, पशुओं जैसा ही हूँ, पर पशु नही हूँ।

मनुष्यके हृदयमें सहज भावसे उठी यह पुकार, बहुत-सी बातोंमे पशुके समान होकर भी पशु न होनेकी, उससे भिन्न होनेकी, उससे श्रेष्ठ होनेकी, यह आत्म-चेतना ही मनुष्यकी सस्कृति है।

मनुष्यके विकासकी पृष्ठभूमि यही आत्म-चेतना, यही सस्कृति है। यह संस्कृति ही उसकी मूल प्रेरणा है। इसीने उसकी जीवन-दृष्टिको विशिष्टता दी है और इसीने उसके जीवन-व्यवहारको उच्चता। इसीसे मनुष्य उठा और अपने निर्माणके पथपर चला; क्योंकि अब उसे हर बातमें अपनी श्रेष्ठता अनुभव करनी थी और प्रदर्शित भी।

संस्कृति मनुष्यके जीवनका शाश्वत सत्य है—यही मनुष्य और पशुके बीचकी विभाजक रेखा है।

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

अपने अन्तर्यामीके ये बोल सुनकर मैंने सोचा—संस्कृतिमें उलझन कहाँ है ? कहीं भी तो नहीं !

साक्षात्कार

संस्कृतिका स्वरूप अब मेरे सामने था, पर उस दिन मुझे अचानक संस्कृतिका साक्षात्कार ही हो गया; जैसे योगीको ब्रह्म-ज्ञानके बाद ब्रह्मका साक्षात्कार हो जावे।

यह मेरे जीवनका एक चमत्कार था !

और यह भी एक चमत्कार ही था कि जीवनका यह चमत्कार एक रातको सिनेमा देखते समय हुआ ! !

तस्वीर थी प्यारकी जीत। कहानी यों थी कि स्त्री-पुरुषोंके दो जोड़े थे—एक सज्जन और एक दुर्जन। सज्जन जोड़ा जीवनमें एक होना चाहता था, पर दुर्जन जोडा इसमें बाधक था। सज्जन जोडा यदि एक हो जाय, तो उसे एक बडी सम्पत्ति मिलनेवाली थी, पर दुर्जन जोडा इस सम्पत्तिको स्वयं हड़पना चाहता था।

कहानीका प्रवाह सज्जनता और दुर्जनताके सघन सनसनीपूर्ण घात-प्रतिघातसे भरपूर था। सिनेमा हाल अन्धकारसे भरा था। मैं जरा बादमें आया था और मुझे पता न था कि मेरे आस-पास कौन बैठे हैं। कहानी बल खाती-इठलाती चल रही थी।

सज्जन जोड़ा मिलनेका प्रयत्न करता, सफलता निकट दिखाई देती कि वे मिले, वे मिले, वे एक हुए कि दुर्जन जोडा अपना दाव मारता और ये दोनों बहुत दूर जा पडते। चोट सहकर वे दुर्जन जोडेपर चोट करते और दुर्जन जोडा चारो खाने चित दिखाई देता।

मेरा ध्यान इस बातपर गया कि जब दुर्जनताकी विजय होने लगती

है, तो मेरे आस-पास बैठे लोगोंका साँस रुकने लगता है और सज्जनता जीतती है, तो उनकी तालियोंकी गूँजसे सारा हाल गड़गड़ा उठता है।

एक ऐसी ही गड़गड़ाहटमें मध्यान्तर हुआ और ऊपरसे प्रकाशके आते-आते सुना—"ऐसे बदमाशोंको तो गोली मार देनी चाहिए।" मुड़कर देखा, तो यह श्री चावलाकी आवाज थी। यह पुरुष अपना कारखाना स्वयं फूंककर बीमा कम्पनीसे २० हजार रुपये उड़ा चुका था!

सज्जनताकी जीत पर मेरे पीछे भी बहुत तालियाँ पिटी थी। उधर देखा, तो मैं धक् रह गया। ये एक कपड़ेके व्यापारी थे और अपनी विधवा बुआकी हत्याकर उसका धन हड़प चुके थे!

समयकी बात, मेरी दृष्टि जिनपर भी उस समय टिकी, वे अधिकतर इसी श्रेणीके पुरुष थे।

अचानक मेरे मनमें प्रश्न उठा—ये लोग दुर्जन जोड़ेकी श्रेणीमें है, फिर यह क्या बात है कि ये तालियाँ बजा रहे हैं सज्जन जोड़ेकी जीतपर? साफ़ शब्दोंमें, इनकी सहानुभूति तो दुर्जन जोड़ेके साथ होनी चाहिए!

मैं अपने प्रश्नसे बेचैन था और कहानी फिर उसी घात-प्रतिघातमें चल रही थी। अन्तमें दुर्जनता बुरी तरह हारी और सज्जनता पूरी तरह जीती, तो हॉल तालियोंसे हिल-हिल उठा। मैं हॉलसे बाहर निकल तारोंकी छाँहमें आया और पार्कके लानपर जा बैठा—मेरा प्रश्न भीतर ही भीतर मुझे उधेड़ रहा था।

सहसा मेरे अन्तर्यामीके बोल मुझे फिर सुनाई पड़े—मनुष्य युग-युगोंतक जंगलमें रहा है, पशुओंमें रहा है, पशुओंकी तरह रहा है। उस कालकी आदतें, प्रवृत्तियाँ आज भी उसके साथ है। ये प्रवृत्तियाँ उसे पशुताकी ओर बहा ले जाती है, वह पशुताके कार्य करनेपर उतारू हो जाता है, पशुताके कार्य करता है, पर उसके भीतर अपनेको पशुसे भिन्न बतलानेवाली,

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

अपनेको पशुसे श्रेष्ठ समझनेवाली, एक आत्म-चेतना है और वह उसे सदा पशुतासे रोकती है।

मनुष्य बुद्धिके, परिस्थितियोंके, प्रलोभनके, माया-जालमें फँस भले ही आत्म-चेतनाकी उस रोकको न माने, लाख पशुता करे, वह चेतना अपना काम करती रहती है। तभी तो बुरे होकर भी प्रशंसा हम भलाईकी ही करते हैं, दुष्ट होकर भी विजय हम सज्जनताकी ही चाहते हैं और इस प्रकार हमारे ऊपर पशुताका लाख अन्धेरा छा जाय, हमारे अन्तरमें देवत्वका प्रकाश ही रहता है। यही संस्कृतिका दीपक है। इसी दीपकके प्रकाशकी वाणी है— **नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**—मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

मुझे लगा कि मेरे बाहर, भीतर, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, चारों ओर दीपक ही दीपक जल रहे हैं और तब पार्ककी उस हरी दूबपर खुले आकाशके नीचे मैंने अपनेसे कहा—यही संस्कृतिका साक्षात्कार है।

वंशवृक्ष

हाँ, तो जंगलमें, जंगली जानवरोंके साथ, जंगली जानवरोंकी तरह रहते मनुष्यके अन्तरमें चेतना जागी कि मैं पशुओंमें हूँ, पशुओं जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ, यानी उनसे भिन्न हूँ, उनसे श्रेष्ठ हूँ ।

यह हुआ संस्कृतिका जन्म ।

इस चेतनाके जन्मसे मनुष्य पर जो पहला प्रभाव पड़ा, वह था यह कि अब उसे पशु और मनुष्यमें भिन्नता अनुभव होने लगी। भिन्नताके इस बोधने उसकी मनोवृत्तिमें जो गहरा परिवर्तन किया, वह यह था कि मनुष्य उसे अब पहलेसे अधिक अपना दीखने लगा।

इसका यह फल अनिवार्य ही था कि मनुष्यको अब मनुष्यके साथ

पशुसे भिन्न व्यवहार करनेकी, अच्छा व्यवहार करनेकी इच्छा-प्रवृत्ति हो। धीरे-धीरे इस इच्छाने जिस व्यवहार-पद्धतिको जन्म दिया, आगे चलकर उसीका नाम पड़ा सभ्यता। **सभायां साधुः सभ्यः**—सभामे, चार आदमियोंमें बैठकर जो आदमी भला लगे, जिसका व्यवहार अच्छा हो, वही सभ्य कहा-माना जाने लगा।

सभ्यता; मनुष्य और मनुष्यके बीच व्यवहारकी एक पद्धति, जिसकी पृष्ठभूमि है सहयोगकी भावना। इस भावनाने छोटे-छोटे सघोंके रूपमें समाजकी, सामूहिक जीवनकी रचना की, जिसकी पृष्ठभूमि है पशुओंके भयसे सुरक्षाका आश्वासन।

तो अब मनुष्यके लिए अपना ही सुख-दुःख अपना सुख-दुःख न रहा; अपनोंका सुख-दुःख भी अपना सुख-दुःख हो गया—भले ही ये अपने १०-२० हों या ४०-५०।

ये अपने मिलकर बैठते, बातमें बात निकलती। इन बातोंमे जिन अजेय जिज्ञासाओंने जन्म लिया, उनमे मुख्य थी प्रकृतिकी चमत्कार भरी व्यवस्था और मृत्यु।

सूर्य कैसे समयपर निकलता है ? तारे क्या है ? बादलोंमे पानी कहाँसे आता है ? फूल कैसे खिलते है ? चाँद कैसे घटता-बढता है और पूर्ण होता है ? ऋतुएँ कैसे बदलती है ?

ये प्रश्न आये, तो यह प्रश्न आयगा ही कि वह कौन है, जो यह सब करता हैं और दिखाई नही देता।

साथ ही यह भी कि यह मृत्यु क्या है ? पहले मनुष्य अपनेमे जीता था और कहीं भी मर जाता था. पर अब वह अपनोंमें जीने लगा, तो अपनोंमें मरने लगा। अपनेके मरनेका दुःख होता ही है, उसका अभाव खटकेगा

ही, तो प्रश्न पैना हो आया कि वह क्या था, जिसके न रहनेसे आदमी मर गया? और मरकर वह कहाँ गया?

इन जिज्ञासाओंने मनुष्यमें एक अप्रत्यक्षके प्रति आस्था उत्पन्न की और इस आस्थाने मनुष्यमें जिन दो नई भावनाओंको जन्म दिया, उनमें एकका नाम पड़ा धर्म और दूसरीका दर्शन।

धर्म बाहर खोजता रहा, दर्शन भीतर। धर्मकी खोज मनुष्यको अपना जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है ईश्वर और दर्शनकी खोज मनुष्यको जो सर्वोत्तम दे पाई, उसका नाम है आत्मा। इतिहासपुरुष शंकराचार्यने दोनोंकी एकता प्रतिपादित की और आत्माको ही परमात्मा बताया।

बस संस्कृतिका यही वंशवृक्ष है—संस्कृति माताकी पुत्री सभ्यता, सभ्यताका पुत्र समाज, समाजके जोड़ले पुत्र धर्म और दर्शन, धर्मका पुत्र ईश्वर और दर्शनकी पुत्री आत्मा।

मूलमंत्र

मूलमन्त्र (मोटो) सत्यका, तत्त्वका रहस्य समझनेमें सहायक होते हैं, तो सोचा संस्कृति और उसके वंशधरोंका मूलमन्त्र यदि खोजा जा सके, तो यह सुविधाजनक होगा।

खोजने पन्ने उलटते, चिन्तन करते जहाँ संतोष पाया, वह यहाँ उपस्थित है। मैं आग्रही नहीं हूँ कि अपने संतोषको परिपूर्णता कहूँ, मानूँ या माननेको बाध्य करूँ।

क्या संस्कृतिकी भाव-दिशा अतीतमें गाई गई इस ऋचामें समाई नहीं है?

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय।

मेरे अन्तर्यामी, मुझे असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर और मृत्युसे अमरताकी ओर ले चल।

असतो मा सद्गमयमें संस्कृतिकी, तमसो मा ज्योतिर्गमयमें सभ्यता-समाजकी और मृत्योर्मामृत गमयमें धर्म-दर्शनकी दिशाका पूर्ण संकेत है।

असत् है पशुता—जंगलीपन—, तो सत् है मनुष्यता—मनुष्यकी संस्कारिता।

तमस्—अन्धकार—है पशु की असहायता, हिंस्रता और ज्योति है मनुष्यकी अहिंसकता, सामाजिकता, सहकारिता।

मृत्यु है मरणके साथ जीवनकी समाधि और अमरता है, जीवन-का शाश्वत प्रवाह, आत्माकी अमरता, चेतनता और व्यापक चैतन्य सत्ताके साथ एकीकरण।

कसौटी

संस्कृतिकी कसौटी क्या है? हम कैसे निर्णय करें कि हमारा अमुक काम संस्कृतिके अनुकूल है या नहीं? संस्कृति शब्दकी लोक-प्रियताने उसे आकर्षक बना दिया है और हर प्रवक्ता एवं लेखक, हर सभा और संगठन अपनेको संस्कृतिका रक्षक कहना आवश्यक मानने लगा है। इसी उलझनके अन्धकारमें प्रकाशकी माँग है—संस्कृतिकी कसौटी क्या है?

संस्कृतिकी कसौटी है पशुता। उचकिए नहीं, संस्कृतिकी कसौटी है पशुता, पर जरा बुद्धिके साथ। जिस परिस्थितिमें पशु जो कुछ करता है, क्या हम भी वही करते हैं या उससे भिन्न? बस पशुसे भिन्नता ही संस्कृतिकी कसौटी है।

पशुका स्वभाव है कि जहाँ, जब, जो, जी में आया कर लिया, पर मनुष्यका स्वभाव है जहाँ, जब, जो, जीमें आये, उसे सोचे कि यहाँ, अब,

यह करना उचित है या नहीं और उचित हो, तो करे, नहीं तो रुक जाय। संक्षेपमें बुद्धिपूर्वक संयम ही संस्कृतिकी कसौटी है।

उलझन

इस कसौटीपर अपने आचरणको कसकर उसके अनुसार चलना कठिन नहीं है, पर वह दलदल कहाँ हैं, जहाँ यह चलती गाड़ी अटककर फँस जाती है; फँस क्या बस धँस जाती है कि निकाले न निकले ?

दोमें बातें होती हैं, व्यवहार चलता है। जबतक दोनों एक मत हैं, एक दूसरेके अनुकूल हैं, कोई बात नहीं, पर जब दोनोंमें मतभेद होता है, तो गरमी आती है, असहिष्णुता उमड़ती है, क्रोध भड़कता है। जी चाहता है कि सामनेवाला हमारी बात माननेको विवश हो और न हो, तो हम उसे ताक़तसे पीस दें, मिटा दें, अपनी बात उससे मनवा लें।

यहाँ पशु और मनुष्य समान हैं। पशुमें भी यह इच्छा सहज है और मनुष्यमें भी, पर मनुष्य बुद्धिमान है, इसलिए पशुओंमें जहाँ इस इच्छाके फलस्वरूप झड़प और हत्या ही होती है, मनुष्यने इसे समाजकी एक सामूहिक प्रवृत्ति बना, युद्धका रूप दे दिया है।

तो युद्ध मनुष्यकी पशुताका, संस्कृति-हीनताका सर्वोत्तम प्रदर्शन है और उलझन यह है कि संस्कृतिकी पताका थामे खड़ा मनुष्य इस युद्धसे कैसे बचे ? सच तो यह है कि हमारी संस्कृतिके इतिहासका सबसे बड़ा प्रश्न है ही यह; इतना गहन, इतना जटिल प्रश्न कि हमारे राष्ट्र-पुरुषोंको इसका उत्तर देनेमें कई हजार वर्ष लग गये !!!

रामने कहा

राम और रावण प्रतिकूल परिस्थितियोंमें आ खड़े हुए। वही युद्धकी परिस्थितियाँ, परिणाममें युद्ध और युद्धमें एक पक्षका सर्वनाश और दूसरे

पक्षकी विजय।

रामके जीवनने क्या कहा? यही कि युद्ध पशुता है, संस्कृतिके विरुद्ध है; यदि हम न्याय-अन्याय और सत्य एव असत्यका विचार किये बिना लडें, पर यदि हमारी न्यायपूर्ण एव सत्यपूर्ण बातको भी दूसरा न माने तो हम शक्ति और साधनोंकी चिन्ता किये बिना लड़े, यह पशुता नही है, संस्कृतिके विरुद्ध नही है। इस दशामें यह निश्चित है कि जीत हमारी ही होगी; क्योंकि सत्यमेव जयते—जीत तो सत्यकी ही होती है।

क्या बात हुई यह? यही कि **यदि विरोधी हमारी बात न मानें, तो हम उससे लड़ें, उसे मिटा दें,** यह अबलकका नियम था। रामने इसमे जोड़ा— **पर हमारी बात न्यायसे पूर्ण हो, सत्यसे पूर्ण हो।**

रामका निर्णय अन्धकारमे प्रकाशकी पहली किरण थी—हम अन्धा-धुन्ध न लडे, सत्यके, न्यायके पक्षमे होकर ही लड़े, असत्यके—अन्यायके विरुद्ध अवश्य लडे और इस विश्वासके साथ कि सत्य कभी नही हारता, हमारी जीत निश्चित है।

कृष्णने कहा

रामका निर्णय महान् था, पर उसमे एक उलझन थी कि यह निर्णय कौन करे कि मतभेदमे सत्य क्या है, न्याय क्या है? यह हो गया तर्कका विषय और तर्क है बुद्धिका मायाजाल कि सुलझाये न सुलझे। फिर हम न्यायके पक्षसे लड़े या अन्यायके पक्षसे, युद्धकी असांस्कृतिक—पजेसे फैसला करनेवाली पशु-प्रवृत्ति—तो हममे रही ही!

तो कृष्णके जीवनकी सबसे बड़ी और आकुल जिज्ञासा यही थी कि युद्ध कैसे रुके?

कौरव और पाण्डव परिस्थितियोंके मायाचक्र पर चढ़े, दो विरोधी

मोर्चोंपर आ जमे। पाण्डवोंका राज्य एक शर्तके साथ कौरवोंके हाथमें आ गया। पाण्डवोंने अपनी शर्त पूरी की, पर कौरव अब राज्य लौटानेसे इन्कार कर बैठे—सत्यसे हट गये, बेईमान हो गये।

रामके निर्णयका तक़ाज़ा है कि पाण्डव लड़े, पर कृष्णका अन्तर्मन्थन आकुल है कि इस परिस्थितिमें भी युद्ध न हो, युद्धकी पशुतासे बचा जाय। वे इस बातपर भी फ़ैसला करानेको तैयार हो गये कि पाँच पाण्डवोंको पाँच गाँव दे दिये जायँ और शेष राज्य कौरवोंके ही हाथमें रहे, पर दुर्योधन इसपर भी नहीं मानता, तो युद्ध अनिवार्य हो उठता है।

तब भी कृष्ण प्रतिज्ञा करते हैं कि वे युद्धमें स्वयं शस्त्र नहीं उठाएँगे और केवल सारथी रहेंगे—परामर्श देंगे। सचाई यह है कि, पाण्डवोंके पक्षमें युद्धका नेतृत्व अब उन्हींके हाथमें है और युद्धको रोकनेवाला ही युद्ध करा रहा है।

यह कृष्णकी असफलता है, पर यही कृष्णकी सफलता है कि वे युद्ध करनेकी एक नई मनोवृत्ति संसारको देते हैं—युद्ध सत्यके लिए हो रहा है या असत्यके लिए, उसका करना धर्म है या अधर्म, उससे लाभ होगा या हानि, यह सब मत सोचो, इसका निर्णय तुम कर ही नहीं सकते, तुम तो बस फलकी, परिणामकी, चिन्ता और इच्छा दोनोंसे मुक्त होकर बस लड़ो, निष्काम रहो। यह है एक सामाजिक विवशताको अपने व्यक्तित्वसे जीवन-कलाका रूप दे देना।

बुद्धने कहा

रामने युद्धकी पशुताको एक ऊँचा आधार देकर संस्कृतिसे जोड़ा, तो कृष्णने युद्धकी पशुताके साथ व्यवहार करनेकी एक नई मनोवृत्ति देकर संस्कृतिसे उसका समन्वय किया, पर युद्धकी पशुता ज्यों की त्यों रही।

तब जन्मा एक क्रान्तिकारी महापुरुष—बुद्ध। उसने कहा—मनुष्यको यह शोभा नहीं देता कि वह पशुता करे। हिंसा पशुता है और अहिंसा मनुष्यता। मनुष्यको मनुष्यताका तक़ाजा है कि वह पूरी तरह अहिंसक रहे।

संसारकी युद्धोंसे थकी मानवताके लिए यह एक नई वाणी थी, इसका समाजपर गंभीर प्रभाव पड़ा और इसकी पूर्णता हुई यों कि सम्राट् अशोकने सेनाओंका विघटन करके धर्म-प्रचारको अपना मुख्य कार्य बना लिया।

दुर्भाग्य भारतका, दुर्भाग्य संसारका और दुर्भाग्य मानव जातिका कि बुद्धके उत्तराधिकारियोंने अहिंसाका दुरुपयोग किया और राष्ट्रके जीवनपर एक दयनीय निष्क्रियता छा गई, जीवनकी क्षमता क्षीण हो चली, स्वतन्त्रता खतरेमें पड़ी और शंकराचार्यके रूपमें प्रतिक्रान्तिने जन्म ले, सफलता पाई।

संस्कृतिके इतिहासमें बुद्धका यह महादान है कि वे युद्धको खुले आम पशुता कह सके, उसका बिना ननु-नचके विरोध कर सके। उनके कार्यका महत्त्व इसीसे स्पष्ट है कि जब विक्रमादित्योंके बनाये महलों-क़िलोंकी ईंट भी खोजे नहीं मिलती, बौद्ध-विहारोंके कलश दूर-दूर आज भी दीप्तिमान हैं!

प्रह्लादने कहा

महान् बुद्धने युद्धके—हिंसाके—अशर्त विरोधकी जो मशाल जलाई थी, वह निष्क्रियताके जिस बवण्डरसे बुझी, वह भाषामें यों था—अरे भाई, ठीक है, हम हिंसा न करें, युद्ध न करें, पर हमारा शत्रु तो अहिंसामें विश्वास नहीं करता, वह तो इसे नहीं मानता! तब क्या हम सिर झुकाकर बैठ जायें और शत्रुसे कहें कि आइए, पधारिए, हमारा सिर काट लीजिए? यदि हाँ, तो इस तरह विदेशी आक्रमणकारीसे हम अपने देशकी स्वतन्त्रताको कैसे बचायें और न बचायें तो क्या देशद्रोही हो जायँ???

मैं पशुओंमें हूँ, पशु जैसा ही हूँ, पर पशु नहीं हूँ !

दिग्दिगन्तमें गूँजते इस प्रश्नका उत्तर दिया—पुराण-पुरुष प्रह्लादने। प्रह्लादका पिता राजा हिरण्यकशिपु इतना नृशंस कि ईश्वरके स्थानमें भी अपनी ही सत्ता स्थापित करनेको आतुर—आकुल और प्रह्लाद महान् ईश्वर-भक्त। दोनोंमें संघर्ष स्वाभाविक ही था, पर पिताकी आज्ञामें हिंसाकी समस्त शक्तियाँ और साधन, पर प्रह्लाद निहत्था और असहाय—एक पहाड़, तो दूसरा रोड़ा।

प्रह्लादने कहा—मैं पिताकी शक्तिका जवाब नहीं दे सकता, पर उनकी शक्तिका आदेश माननेसे इंकार तो कर सकता हूँ। क्रुद्ध होकर उनकी शक्ति मुझे कष्ट देगी। मैं उन कष्टोंको नहीं रोक सकता, पर सह तो सकता हूँ। सहते-सहते मैं मर जाऊँगा, पर मरनेकी सम्भावना, तो हिंसाका जवाब हिंसासे देनेमें भी है। ठीक है—मैं कष्ट सहूँगा, मिट जाऊँगा, पर झुकूँगा नहीं।

पुराण पुराण है। जलते लौह-खम्भसे नृसिंहके रूपमें भगवान् निकले, हिरण्यकशिपुका वध हुआ, हिंसा हारी, अहिंसा जीती। लोक-मानस विश्वासी है। वह नहीं सोचता कि हर गरम खम्भेसे भगवान् नहीं निकलते; वह सोचता है—हिंसामें लाख शक्ति हो, अहिंसा भी कोई मामूली चीज नहीं, उसके पीछे दैवकी शक्ति है।

लोक-मानसका यह विश्वास ही संस्कृतिके इतिहासमें प्रह्लादका दान है। यह दान और भी महान् हो उठता, यदि प्रह्लाद उसपर नये प्रयोग करते, पर मालूम होता है कि वे अपनी पहली सफलतासे ही इतने भावाविभूत हो गये कि फिर कुछ भी न कर पाये।

उनके पौत्र बलिने इधर विशेष ध्यान दिया और वह पूर्ण अहिंसा-वादी हो चला, तो प्रह्लादने उसे उपदेश दिया :—

न श्रेयः सततं तेजो, न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात, पण्डितैरपवादिता॥

बेटे, न सदा क्रोध ही कल्याणकर है, न निरन्तर क्षमा ही, इसलिए आचार्योंने निरन्तर क्षमाके लिए अपवादोंकी—विशेष अवसरोंके लिए विशेष नियमोंकी, रचना की है।

इसका क्या अर्थ ? यही कि प्रह्लाद व्यक्तिगत रूपसे अहिंसाके प्रयोगमें सफल होकर भी उसके सामूहिक प्रयोगका साहस नहीं कर सके। फिर भी प्रह्लादके प्रयोगने बतलाया कि अहिंसा निष्क्रियता नहीं है और उसके द्वारा हम हिंसासे टक्कर ले सकते हैं, उसे परास्त कर सकते है। वह विवशता नहीं है, उसके प्रयोगमें दैवी सम्भावनाएँ है, उससे चमत्कार हो सकते है; संक्षेपमें अहिंसा एक महाशक्ति है।

प्रह्लाद कभी हुए हों, न भी हुए हों, उनका यह दान जन-मानसकी अमूल्य धरोहर है।

गांधीने कहा

एक ओर हिंसाकी सम्पूर्ण शक्ति और साधनोंसे सम्पन्न ब्रिटिश राज्य और दूसरी ओर निहत्थी, उदास और असगठित भारतीय जनता। पहला दूसरेकी छातीपर यों सवार कि प्रार्थना सुने, न चीत्कार और दूसरा यों दबा-घुटा कि हिलनेमें भी असमर्थ।

क्या दोनोंमें युद्ध सम्भव है ? किसीने हाँ नहीं भरी और सब दिशाओंमें सन्नाटा छा गया। तब सुनाई दी गान्धीकी गम्भीर वाणी—हाँ, सम्भव है और सचमुच २७ वर्षोंमें गान्धीने असम्भवको सम्भव करके दिखा दिया !

अभीतक युद्ध-शास्त्रका सिद्धान्त था—शत्रुको इतना कष्ट दो कि वह सह न सके, मिट जाये। अब यह सिद्धान्त हो गया—शत्रुको कष्ट न देकर स्वयं उसके द्वारा इतना कष्ट सहो कि शत्रुका हृदय बदल जाय, वह शत्रुता छोड़ दे।

अभी तक युद्धका लक्ष्य था—शत्रुका नाश करना, अब उसका लक्ष्य हो गया—उसे मित्र बना लेना।

अभी तक विजयकी कसौटी थी—जो अधिक मारेगा वह जीतेगा। अब कसौटी हो गई—जो अधिक सहेगा, वह जीतेगा।

और इस प्रकार गान्धीने पशु-प्रवृत्ति युद्धको मानवीय संस्कृतिकी कसौटी—पशुसे भिन्न व्यवहार—पर खरा उतार दिया। प्रसंगान्तर न हो, तो कहें—युद्ध और संस्कृतिका एकीकरण ही विश्वके इतिहासको गान्धीकी सबसे बड़ी देन है।

तत्त्वज्ञान

हमारी संस्कृतिका तत्त्वज्ञान क्या है? पहले यह कि हमारी क्या? संस्कृतिमें भेद नहीं है—संस्कृति हिंदूकी, मुसलमानकी, ईसाईकी, यहूदीकी नहीं होती, मानवकी होती है। वह पूर्वकी, पश्चिमकी, रूसकी, अमरीकाकी, फ्रांसकी, भारत की भी नहीं होती—मनुष्यकी यह आत्मचेतना कि मैं अनेक बातोंमें समानता होनेपर भी पशु नहीं हूँ, उससे भिन्न हूँ, श्रेष्ठ हूँ, सर्वत्र समान है, इसमें भेद क्या?

हाँ, संस्कृति अपने वंश—विकास मण्डल (सभ्यता, समाज, धर्म और दर्शन) के द्वारा जिस तत्वज्ञान (जीवन-कला-विचार और कर्मकी प्रक्रिया) की रचना करती है, देश-प्रदेशकी परिस्थितियोंके कारण उसमें भेद सम्भव है, सहज है।

भारतमें यह तत्त्वज्ञान किस रूपमें प्रस्फुटित हुआ, उसने जन-जीवनमें क्या स्वरूप लिया, इसका अनुभव एक दिन मुझे विचित्र रूपमें हुआ।

भाई रघुवीरशरणको मरे चौथा दिन था और हम सब उसके फूल चुनने श्मशान गये थे। अस्थियाँ संचयकर एक थैलीमें भरी गईं और चिताकी

राख इकट्ठी कर, उसकी एक ढेरी बना दी गई। प्रथाके अनुसार बाँसीके वृक्षकी एक टहनी उस ढेरीपर रोप दी गई।

इसका क्या अर्थ? यह नये जीवनका प्रतीक था। भारतीय तत्व-ज्ञानके अनुसार मृत्यु अन्त नही, नाश नही, एक परिवर्तन है। **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय**—हम इधर मरते हैं, उधर जन्मते हैं। इधरकी सध्या उधरका प्रभात है। मृत्युकी यह प्रसन्नता-पूर्ण कल्पना हमारे जीवनकी एक विभूति है। चिताकी राखपर वृक्षारोपणकर हम इसीकी घोषणा करते है।

देरीसे हवन-सामग्री आनेके कारण वृक्षारोपणके बाद हवन किया गया। अग्निमे सामग्री छोड़नेपर वैद्य जगदीशचन्द्रजीने देखा, सामग्रीके साथ एक कीडा जल रहा है। बडी फुर्तीसे, अत्यन्त कोमलताके साथ, उन्होंने अपनी अंगुली जलाकर भी उसे बचा लिया।

इस क्षुद्र कीटका जीवन क्या, पर उसे बचानेकी एक भारतीयको इतनी चिन्ता है कि वह अपनी अगुली जलनेकी भी चिन्ता नही करता। जीवनकी यह महत्ता, जीवमात्रके प्रति यह आकर्षण, जीवनके प्रति यह दिलचस्पी हमारे जीवनकी दूसरी विभूति है।

सोचा—भारतीय तत्वज्ञान जीवनको एक खेल मानकर भी जीवनकी उपेक्षा नही करता और उसके अनुसार जीवनका स्वरूप यह है कि हम पृथ्वीको स्वर्ग बनानेके संघर्षमे मृत्युका भय छोड़कर जूझते रहे और या तो हम अपने श्रमसे पृथ्वीको ही स्वर्ग बनाकर जीवनके आनन्दका उप-भोग करें अन्यथा ऐसा करनेके प्रयत्नमे ही अपने जीवनका उत्सर्गकर यश और आत्म-तुष्टिके स्वर्गमें अपना सिंहासन स्थापित करें।

जीवनका यह कितना परिपूर्ण चित्र है—मधुर, उज्ज्वल, आशा एव आनन्दमय !

जब हम सिर्फ़ एक इकन्नी बचाते हैं

मेरठकी नौचन्दीमें एक शानदार कवि-सम्मेलन था। मैं न कवि हूँ न गायक और कवि-सम्मेलनमें इन्हीकी जरूरत पड़ती है, तो मैं एक गैर ज़रूरी चीज़ था, पर साथियोंने पकड़ मँगाया था, तो था वहाँ— शायद प्राचीन युगके पण्डेकी तरह, शायद इस युगके गाइडकी तरह!

रातमें दरबार-कैम्पमें कवि-सम्मेलन होना था और उसके पास ही टैंटमें कवि लोग खाना-पीना कर रहे थे। क़ायदा है कि कवि-सम्मेलन होनेसे पहले कवियोंकी खूब आवभगत होती है, पर उसके बाद वे अक्सर अपने बिलके लिए संयोजकजीको खोजते फिरा करते है या अपना बिस्तर स्वयं ढोये तांगा स्टैंडकी ओर बढते दिखाई दिया करते हैं।

इसी बीच आँधी उठ आई, बादल घिर गये और वह दौंगड़ा पड़ा कि दरबार-कैम्पकी हालत उखड़ते मेले जैसी हो गई। कवि-सम्मेलन दूसरे दिनके लिए स्थगित हो गया—कोई और रास्ता ही न था; अब प्रश्न था कवियोको शहरतक पहुँचानेका।

श्री बालमुकुन्द 'अनुरागी' ने मित्रभावसे कहा—मेरे पास दो कम्बल हैं, इन्हे उढाकर सब साथियोंको हम तांगा-स्टैंडतक चले जायँगे और वहाँसे तांगा पकड लेगे, पर संयोजक अपने अतिथियोको पूरा आराम देनेके पक्षमे थे, इसलिए उन्होने गर्वोक्तिके स्वरमे कहा—"नहीं जी, सबको मोटरमें भेजते है"—पर मोटर वहाँ कहाँ थी?

वे बोले—"दिल्लीसे श्री . . .जी अपनी मोटरमे आये है, उसमे चले जायेंगे सब।"

"वह मोटर नही मिल सकती!" शान्त दृढतासे अनुरागीजीने कहा, तो संयोजकजी बोले—"वाह साहब, मोटर क्यो नही मिल सकती, हमने

उनके परिवारके लिए अपने खर्चेसे टैण्ट लगवाया है और सौ इन्तजाम किये हैं।"

अनुरागीजी चुप रहे और संयोजकजी अपनेको कम्बल और आत्म-विश्वासमे लपेटले-से बाहर चले गये। तभी अनुरागीजीने मुझसे कहा—"लो, संयोजकजी तो माने नहीं, पर अब यह फैसला होगा कि श्री. . .जी धनपति है या धनपशु ?"

तभी आंधीका एक नया रेला आया और हमारा टैंट गिर-गिरूँ हुआ कि हम उधर लग गये और बात हवाके झोंको चढी उड गई। संयोजक-जीने आकर कहा—"वे कहते हैं, यात्रामें ड्राइवर थक गया है। थोड़ा आराम कर ले, तो अभी छोड़ आयेगा।" हम सब समझ गये कि उन्हें अपनी नई गाडीके खराब होनेकी चिन्ता है, पर अनुरागीजी बोले—"भाइयो, कम्बल ओढो, चलो, फैसला हो गया।"

उनके वाक्यने औरोंको सुलझाया, तो मुझे उलझा दिया—जिसके पास धनका सग्रह है, वह धनपति; फिर यह धनपशु क्या है ?

मित्र-साथी परिस्थितियोंका रस लेते रहे, मैं सोचता रहा। उलझे रहना मेरे स्वभावके विरुद्ध है, पर उलझन तो है ही कि धनपति और धनपशुके मध्यकी भेद-रेखा कहाँ है ? क्या है ?

श्री. . . .जी धनपशु हैं, यह फैसला हो गया, पर वे धनपशु क्यो हैं ? इसलिए कि उन्होंने मनुष्यकी अपेक्षा अपनी सम्पत्तिको अधिक महत्त्व दिया, तो उलझन सुलझ गई कि जो आदमी अपने सगृहीत धनको महत्त्व दे वह धनपति, पर जो उसे मनुष्यकी अपेक्षा भी महत्त्व दे, वह धनपशु; जिसके लिए ससारमे धन ही सर्वोत्तम !

मैं भी बातचीतमें लग गया, पर मुझे लगा कि सत्य अभी अधूरा ही हाथ आया है।

[२]

इस घटनाके कोई १० वर्ष बाद। मैं उस दिन देहरादूनसे मसूरी जा रहा था। बसमें जहाँ मैं बैठा, उससे अगली जुड़वा सीटपर दो सज्जन बैठे थे। एक प्रौढ़, एक तरुण। आमतौरपर मेरा ध्यान साथी यात्रियोंपर नहीं जाता; क्योंकि एकान्तमें बाहर कम, भीतर ज्यादा देखना, तो यात्रामें भीतर कम, बाहर अधिक देखना मेरा स्वभाव है। फिर पहाड़ी यात्रामें तो आस-पास होता है सजावटके कोढ़से घिरा हुआ सौन्दर्य, छछोरपनसे छाई हुई जवानियाँ, दरिद्रतासे दलित कुछ मानवात्माएँ और बाहर विराट् प्रकृतिका वैभव, पर यात्राके आरम्भमें ही एक ऐसी बात हो गई कि मेरा ध्यान सामनेवाले प्रौढ़पर जा टिका।

बस चलनेको ही थी कि बादल गहरे हो आये, तो उन्होंने जोरसे कहा—"क्यों ड्राइवर, ऊपर तिरपाल भी डाल दी है। हमारा रेडियो रक्खा है। पूरे १००० रुपयोंका है।" उन्होंने 'पूरे एक हजार' का जिस ढंगसे प्रयोग किया, उसने मेरे कानोंके पर्देपर एक ऐसी टकोर दी, जो बहुत देर गूँजती रहती है।

ड्राइवरने उन्हें विश्वास दिलाया कि रेडियो सुरक्षित है। ड्राइवर ज़रा नीचे उतरा, तो उन्होंने क्लीनरको बुलाकर कहा—"अरे, हमारा एक हजार रुपयेका रेडियो ऊपर रक्खा है।" उसने भी उन्हें आश्वासन दिया। अब वे स्वयं नीचे उतरे और बसके चारों ओर घूमे—आँखें ऊपर किये हुए। लौटे, तो आप ही आप यह कहते हुए—"एक हजारकी रक़म है।" मैंने सोचा—एक हजार रुपये रेडियोकी कीमत है या इस आदमीकी बात-चीतका नारा?

बस चली, तो वह प्रौढ उस तरुणको बताने लगा कि हम कितनी सब्जियाँ लाये हैं। देहरादूनसे दो सेर पालकका शाक १) रु० में लिया

और मसूरीमे यह मिलता है १) रु० सेर, तो इस तरह एक रुपया बचा। तोरी, भिण्डी, टेण्डस, अदरक, नीम्बू, मूली; सबका हिसाब जोड़ा। बीच-बीचमे वह भूल गया, तो फिर जोड़ा। कुल मिलाकर सात रुपये बचे थे। यो हम राजपुर पहुँचे।

राजपुरसे बस चली, तो चारों ओर प्रकृतिका स्वर्ग। तभी अपनी डायरीमे कुछ लिखनेको तरुणने अपना फाउण्टेन पेन निकाला, तो उस प्रौढ़ने कहा—"कितने रुपयेका है तुम्हारा पेन ?" वह मामूली पेन था। तब प्रौढने भीतरकी जेबसे निकालकर अपना पेन तरुणको दिखाया "यह १५० रुपयेसे ज्यादाका है।"

फिर गर्वमे डूबकर बोला—"मैने यह पाँच रुपयेमे लिया था। एक पहाड़ी लड़का इसे बार-बार खोलकर देख रहा था। मैं भाँप गया कि यह अपने सेठका उड़ाकर लाया है। बस, मैं उसे अपने साथ घर ले आया। पाँच रुपये नकद दिये और अपने लड़केका पुराना कुरता। वह ससुरा इसकी क़ीमत क्या जानता ? टूट जाए, तब भी ४५ रु० कम्पनी देती है इसके !"

मैंने यह सब सुना, तो अधमरा-सा हो गया। सोचा—आज हम जिसे दूसरेके घर चोरी करनेकी लत डालते हैं, वह कल हमारा नौकर भी हो सकता है और तब वह हमारे ही घर हाथ साफ़ करेगा। सामूहिक जीवनकी दृष्टिसे हम कितने दिवालिया हो गये है ?

पेन जेबमें डालते समय एक काग़ज़ उनके हाथको लगा। निकाला, तो कहीसे आया हुआ लिफाफा। मैं देख रहा हूँ कि वे उस लिफाफेको बहुत ग़ौरसे देख रहे है। यो क्या देख रहा है यह जानवर ? मेरे भीतर यह प्रतिक्रिया फूटी कि उसने तरुणकी तरफ लिफाफा बढाकर पूछा—"देखना इसके टिकटपर मोहरका निशान तो नही पडा—यह तो दूसरे लिफाफेपर

लग सकता है ?" और तब बहुत खुश होकर बोला—"वाह-वाह, लिफाफा भी आया और टिकट भी साथ लाया; यहाँ भी दो आने बचे।"

सोचा—आजकल हर चीज महँगी है, सिर्फ ईमान सस्ता है और तब याद आई महाकवि कालिदासके रघुवंशकी यह बात कि ऋषि लोगोंको खेतोंपर सिला चुगनेसे जो अन्न प्राप्त होता था, उसका छटा भाग राज्य-करके रूपमें वे अलग रख देते थे, पर उसे लेने राजाका कोई आदमी आता न था, तो वे उसे अपने उपयोगमें न लेकर वापी-तडागके तटोंपर बो देते थे—**'षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः'**।

एक दिन हमारी ईमानदारी, देशकी सामूहिक व्यवस्थामें अपना भाग अर्पित करनेकी हमारी निष्ठा इस रूपमें थी, पर आज एक खाता-पीता आदमी अपने स्वतन्त्र देशकी सरकारको दो आनेका भी धोखा देनेको तैयार है!

बहुत ही सुन्दर प्रदेशसे होकर बस गुजर रही थी। मैं उस सौंदर्यमें उलझ चला, पर तभी याद आ गई मुझे मेरठवाली उस घटनाकी और मैंने सोचा कि उस दिन धनपशुके स्वरूपका सिर्फ़ ज्ञान हुआ था, यह उसका साक्षात्कार है।

अब यह सूत्र मेरे हाथोंमें आ गया था—जो जीवित मनुष्यकी अपेक्षा अपने जड़ धनको अधिक महत्त्व दे वही नहीं, जो सत्यकी अपेक्षा, न्यायकी अपेक्षा धनको महत्त्व दे, वह भी धनपशु है।

[२]

उस दिन कलकत्तेसे चला, तो रेलके डब्बेमें नीचेकी एक बर्थपर मैं था। सामनेकी बर्थपर एक तरुणी, ऊपरकी बर्थपर उनके पति और मेरे ऊपरकी बर्थ खाली।

सोनेका अभी समय नहीं था। वे दोनों नीचेकी बर्थपर बैठे बातें करने

लगे और मैं बाहरका दृश्य देखने लगा। रात अंधेरी थी पर मीलोतक कलकत्तेका वैभव रेलके साथ दौड़ता है, जैसे विज्ञानका दैत्य विज्ञानकी प्रदर्शिनीके बीचसे फुंकारता जा रहा हो।

अचानक किसीने मुझे छुआ-सा, तो मैंने भीतर झांका। तरुण महाशय मेरी बर्थके नीचे कुछ देख रहे थे। क्या है भैया? मैंने पूछा, तो बोले—इन्होंने अभी-अभी उंगलीसे अंगूठी निकाली, तो वह चटककर जाने कहाँ जा गिरी?

मैंने तकियेके नीचेसे टार्च निकालकर चमकाया और कोनेमें छुपकर-रूठकर बैठी-सी उनकी अंगूठी मिल गई। मैं लेट गया—अब वे दोनों मेरे सामने थे।

अंगूठीको तर्जनीमें चक्रकी तरह घुमाते हुए तरुणीने कहा—"मौसीकी हालत तो थी नहीं कि वह प्रेजेण्ट (उपहार) दे, पर अंगूठी उसने दे ही दी। कितने रुपयेकी होगी यह?"

"पुखराज तो इसका अच्छा है, काफी दामकी होगी।" तरुणने कहा और वे दोनों इतनी नहीं-इतनीके ऊहापोहमें उलझ गये, पर तरुणीको सन्तोष न हुआ। तब अंगूठीको अनामिकामें पहनते हुए उसने फैसला दिया—"इलाहाबाद पहुँचते ही इसे जौहरीको दिखाऊंगी।"

बिजली बुझा दी गई, डब्बेमें अन्धेरा हो गया, पर मेरे भीतर जिज्ञासाका यह जुगनू चमकता रहा—मौसीकी ममता और अंगूठीका सौन्दर्य इन लोगोंको प्रभावित नहीं कर पाया और बस इनकी दिलचस्पी सिर्फ इस बातमें है कि इसका मूल्य क्या है; यह कैसी मनोवृत्ति है?

यह जुगनू भभककर लैम्प हो गया, जब मैंने सोचा—निश्चय ही ये दोनों पक्के धनपशु हैं।

[४]

उस दिन देहातोंके बीचसे होती मोटर बस जा रही थी और मैं सोच रहा था कि भारतके विशाल क्षेत्रको, उसके हर ग्राम और कस्बेको रेलकी पटरीसे जोड़ देना, तो शताब्दीके बाद भी असभव ही रहेगा, पर हम उसे पक्की सड़कसे अवश्य जोड़ सकते है और इस तरह हमारे देशमे मोटर व्यवसाय और व्यापार, दोनोका ही भविष्य उज्ज्वल है।

तभी एक अड्डेपर मोटर ठहरी। पासका गाँव तो छोटा-सा ही है, पर दो सड़कोका यह जकशन है, इसीलिए अड्डा बन गया है। मेरी ही सीटपर एक सरदारजी अपना उर्दू दैनिक पढनेके बाद अपनी मोटी रानके नीचे दाबे बैठे थे।

तभी एक देहाती किशोरने बसमे झाँककर देखा और विनयके स्वरमे कहा—"सरदार जी, हमारे गाँवमे लाइब्रेरी है। उसके लिए अपना अखबार दे दो।"

"आज हम दे दें, तो कल कहाँसे आयगा तुम्हारी लाइब्रेरीमे अखबार?" सरदारजीने पूछा, तो किशोरने कहा—"कल किसी और भाईसे ले लेगे। हम रोज़ इसी तरह कर लेते है सरदारजी!"

उचित प्रश्नका उचित उत्तर था, पर इस औचित्यमे औद्धत्यका यह दानव सहसा कूद पड़ा—"अखबार लेना है, तो दो आने दो।" लड़केने हाथ जोडे, वह गिडगिडाया, पर सरदारजी अटल रहे। बस चली, तो आप ही आप बोले—हम तो 'बपारी' है; यो माल मुफ्त बाँटने लगे, तो हमारा दिवाला खिसक जाये।"

सुनकर सोचा—'बपारी' है या नही यह सरदार धनपशु अवश्य है।

[५]

एक दिन बूढ़ा चाटवाला आया, तो घर-पड़ौसके बच्चे मुझे लिपट

गये—"हम तो चाट लेंगे, हम तो लेंगे।" सबको चाट दिला दी। वे चाट खाते रहे, मैं एक चटपटी गोष्ठीका आनन्द लेता रहा, पर दूसरे दिन अधिकांश बच्चोंकी तबियत खराब थी।

फिर एक दिन बूढ़ा आया और मैंने उसे धीरे-धीरे चरखीपर चढाया, तो पता चला कि बरसातके इस बुसाऊ मौसममें पहले दिन जो चाट बिकनेसे बच गई थी, उसे भी उसने दूसरे दिनकी चाटमें मिला दिया था।

मैंने सोचा—यह ग़रीब चाटवाला भी, जो दूसरोंके स्वास्थ्यसे अपने कुछ पैसोंको अधिक महत्त्व देता है, पूरा धनपशु है।

[६]

चाटवाला चला गया, तो मैं पिछले १५ वर्षोंमें बिखरे धनपशुताके इन सूत्रोंको मिलाकर एक सीधा-सच्चा, पर समर्थ सूत्र बनाने लगा। धागे मिलते रहे, टूटते रहे, जुड़ते रहे और तब यह सूत्र हाथ लगा—

'जीवनमें हम क्या करें, क्या न करें? इस प्रश्नके समाधान और निर्णयका मापक तत्त्व है सत्य, न्याय, औचित्य और सौन्दर्य—हमारा हर निर्णय सत्यसे, न्यायसे, औचित्यसे और सौन्दर्यसे समर्थित हो, पर इनकी उपेक्षा करके जब हम अपने निर्णयको धनके लाभ या बचतकी दृष्टिसे करते हैं, तो धनपशु हो जाते हैं; भले ही यह लाभ या बचत एक आना हो या एक करोड़ रुपये, क्योंकि धनपशुता धनपतित्वका अनिवार्य अंग नहीं, यह एक वृत्ति है—एक आनेका एक शब्द कम करके जो मनुष्य तारकी स्पष्टता, उसका सौन्दर्य नष्ट करता है, वह भी निश्चय ही धनपशु है।

[७]

और तब मुझे याद आ गई वह ऐंग्लो इंडियन महिला, जिससे अचानक उस साल शिमलेमें परिचय हो गया था। मिस नार्मन साड़ियोंकी एक बहुत बड़ी दूकानमें सेल्समैन थी और उसका मुख्य काम था ग्राहक स्त्रियोंको

एकान्त कमरेमें साडी पहनाकर खरीदारीके लिए तैयार करना, दूसरे शब्दोंमें साडियोंके चुनावमें सहायता देना।

मैं यों ही एक पत्रकारकी झकमें दूकान देख रहा था कि एक दम्पति आये। दोनो साहब थे, पर यह तय करना कठिन था कि दोनोंमें अधिक काला कौन है। श्रीमतीजीने ४-५ साडियाँ चुनी और मिस नार्मनके साथ कमरेमे चली गईं। वहाँसे वह करीनेके साथ जो साडी पहने हुए आईं, उसका रंग गाढा था और किनारे इतने भारी कि देवीजी मुझे झांझी-सी लगी।

उनके पतिने मिस नार्मनसे रग और भारीपनकी शिकायत की, तो वे एक दूसरी साड़ी दिखाकर बोली—"भद्र पुरुष, मेरा समर्थन तो इस साडीको प्राप्त है, पर श्रीमतीजीकी पसन्द उसके पक्षमें हैं।" सचमुच वह साड़ी बहुत फबनेवाली थी।

पतिने रुपया दिया और चले गये। तभी मैंने आगे बढकर कहा—"मेरी बहन, क्या मैं इस साडीको देख सकता हूँ?" सम्बोधनसे वह प्रसन्न हुई और साडी उसने मुझे दिखाई। इस साड़ीकी कीमत २३५) रुपये थी और जो वे ले गई उसके दाम थे ३६२) रुपये।

"माफ करना बहन, एक प्रश्न है कि आप उसे कम कीमतकी साड़ीका सुझाव क्यों दे रही थी?" मैंने गहरे होकर पूछा, तो बहुत ही सधे स्वरमें मिस नार्मनने कहा—"मेरे भाई, मेरा काम ग्राहकोंके बटुये खाली कराना नही, उन्हें चुनावमें सहायता देना है।"

मैं उसे धन्यवाद दे लौट आया, पर इतने वर्षोंके बाद भी मिस नार्मन मेरे सामने खड़ी है और उसके साथ ही वह काली मेम भी—वही बेतुकी साडी पहने और पहने क्या, बस लादे!

मैं सोच रहा हूँ इन दोनों महिलाओंके ठीक बीचोबीच धनपशुकी वह विभाजक रेखा खिची है, जिसे मैं इतने रहा था। यह काली महिला है धनपशुका प्रतीक; क्योंकि का आधार है धन और यह गोरी महिला है धनपति; सुझावका आधार है सौंदर्य, औचित्य और न्याय !

चिड़िया, भैंसा और बछिया

[१]

पेट तो भर गया, पर आधी रोटी थालीमें शेष है। भीतरसे एकने ताना फैलाया—'अरे, खा भी लो, दो टुकड़े ही तो है, और दूसरेने बाना भर दिया—'तुम तो कभी जूठा छोडते ही नहीं, बस चार बार मुँह और चलाओ कि थाली साफ।'

देख रहा हूँ ताना भी ठीक है और बाना भी ठीक, पर आहार-विहारमें मैं इतना भोला होता और ऐसी सिफारिशें सुना करता, तो अबतक तीन बार प्लूरिसीमे मर चुका होता!

फिर छोड़िए मरने-जीनेकी बात, दो टुकड़ोंके मोल रात भरकी खट्टी डकारे खरीदना, मुझे तो कुछ बुद्धिका व्यापार दिखाई नही देता।

मै उठ खडा हुआ, पर इस आधी रोटीके सदुपयोगकी बात मेरे मनमे थी, तो आधी रोटी हाथमें लिये, मै बाहर आया कि चिडियोंको चुग्गा दूँ, पर देखता हूँ कि ठेलेवालेका भैंसा सामने बँधा है।

चिडियोंका हमारे जीवनसे भला क्या संबंध? सुबह-ही-सुबह नींद उचाटनेवाली चूं-चूं और घरमे तिनके-बीटोंका कूडा। हूँ: चली बडी चिड़ियाकी बच्ची कहीकी! भैंसा हमारे लिए उपयोगी है, समाजका बोझ ढोता है, सौ काम करता है।

भीतरसे किसीने यह ताना-बाना पूरा कि मैं अपनी आधी रोटी लिये भैंसेकी ओर वढा, पर देखता हूँ, सामने ही खड़ी है पडौसके बाबूजीकी बछिया। गायके प्रति हिन्दूकी सहज निष्ठा है। मैं उस ओर खिच गया और बडे लाड़से वह रोटी मैंने बछियाको खिला दी।

[२]

रोटी खिला दी, काम निमटा, पर काम कहाँ निमटा, मेरी रजाईकी मुलायम बुक्कलमें कहींसे यह एक प्रश्न जो उभर आया है—क्यों जी, ममता जो मानवकी सहज वृत्ति है, उसमें यह उपयोगिताका भेद कहाँसे आ घुसा? क्या यह ममताकी शुद्धताका संहारक है या उसकी दिशाका सूचक?

प्रश्न अपनेमें साफ है, पर मैं उसे ज़रा और भीतरतक समझना चाहता हूँ। मेरे पास धन है मैं उसे कुकर्मोंमें उड़ा रहा हूँ। मेरे पास धन है और मैं उसे सुकर्मोंमें लगा रहा हूँ। मेरे पास धन है, पर न मैं उसे खाता हूँ, न खर्चता हूँ, बस दबाये बैठा हूँ।

हमारे भीतर एक बोध वृत्ति है, जो कहती है कि पहली और तीसरी बात बुरी है और दूसरी अच्छी है। मनकी बात है, बिना किसी बहस-दलीलके मनमें समा जाती है—हाँ जी, दूसरी ही बात अच्छी है, फिर भी यह पूछनेकी गुंजाइश तो है ही कि क्यों अच्छी है?

उत्तर साफ़ है कि उपयोगके आधारपर और यह उत्तर साफ़ है, तो यह निष्कर्ष भी साफ़ है कि उपयोगिता ही जीवनका एक मानदण्ड है, जो हमारी प्रवृत्तियोंका मूल्य आँकती है।

मैंने सोचा—तब मैंने ठीक किया कि रोटी न चिड़ियोंको दी, न भैंसेको खिलाई, बछियाको भेंट कर दी। अपने निर्णयकी प्रशंसासे मेरा आपा आप ही आप भर गया और मैं सुखसे लेट गया।

[३]

लेटते ही मुझे याद आ गई, अपने पुराने पड़ौसी रामदयालकी। उनके तीन पुत्र थे। बड़ा था भगड़—शामको ऐसी चकाचक छानता था कि गुच; हाथी कटड़ा दिखाई दे, तो भैंस भौंरा, पर लुत्फ़ यह कि नशेकी झोंकमें

भी उसे यह ध्यान रहता था कि कैसे वह अपने पिताके पैसे चुराये और नशेकी खुमारीपर रबडीकी तह दे सके!

दूसरा लड़का गूँगा—कभीके अभिशापोंको भोगने ही जैसे जगत्मे आया हो—न पढ़ा, न लिखा, कोरा लट्ठ!

तीसरा लडका कचहरीमे नौकर, तनखाह अच्छी और उससे भी अच्छी ऊपरकी आमदनी।

रामदयाल रातदिन अपने छोटे लडकेके गीत गाता और उसकी खूब खातिरें करता। बड़ा लडका अपनी बदमाशियोंसे मतलब भरको उचक लेता, पर वह गूँगा लड़का कमानेके लायक नही, उचकनेमे असमर्थ—सब तरह दूसरोंकी दयापर निर्भर। दूसरे भाइयोंके फटे कपडों और टूटे जूतो-पर उसे जीना पड़ता।

एक दिन वह कमाऊ पूत भोजनपर बैठा, तो उसमे मक्खी निकल आई। वह बहुत नाराज हुआ और जूठा खाना छोड़कर उठ गया। बापने सबको गालियाँ दी, उसे मनाकर लाया और नई थाली परोसकर भोजन कराया।

गूँगेसे कहा गया कि भाईकी जूठी थालीमे वही मक्खीवाला खाना वह खा ले, पर वह तैयार न हुआ। बापको गुस्सा आ गया और गूँगेपर लकड़ी मार पड़ी। पेटमे भूखकी कचोट, तनपर मारकी चसक और कले-जेमे अपमानका नासूर, बेचारा दिनभर बहुत दुखी रहा।

मेरे पिताने शामको उसे बुलाकर चाय पिलाई, खाना खिलाया और पुचकारा, दुलारा। बाहरसे मै लौटा, तो सारा किस्सा उन्होंने मुझे सुनाया, और बोले—"कैसा राक्षस बाप है रामदयाल।"

रामदयालकी याद आई, तो उस यादमेसे झाँक पड़ा, यह प्रश्न—

उपयोगिताके आधारपर ममताका बँटवारा करनेवाला रामदयाल राक्षस है, तो फिर तू ही कहाँका देवता है ?

[४]

प्रश्न मेरे ही विरुद्ध है, मुझे ही झकझोरता है, पर देख रहा हूँ, इससे मेरे ही भीतर एक मीठी रोशनी फैल रही है और मैं सोच रहा हूँ—सम्पूर्ण ममता, अपने-बेगाने, मनुष्य-पशु, देश-विदेश सबके प्रति समान ममता, अखण्ड प्रेम ही देवत्वका पथ है। **'ना जाने किस रूपमें नारायण मिल जायँ'** सन्त तुलसीदासकी यह सूक्ति जीवनकी अखेण्डताका ही तो निर्देश करती है। धर्म और राजनीति दोनों ही आज इस अखण्डताके विरुद्ध बागी होकर जी रहे हैं और तभी यह विश्व नरकका अखाड़ा बना हुआ है।

भोजनके बाद खानेके लिए रक्खा हुआ सेव मैं उठकर उठा लाया और मैंने उसके चार टुकड़े कर डाले। एक भैंसेको दिया, एक बछियाको, एक अपने मुँहमें और एककी किरचें कर चिड़ियोंको बखेर दी।

मैं ऐसी जगह खड़ा था, जहाँसे भैंसा, बछिया और चिड़िएँ दिखाई दे रही थी। हम सब एक ही सेवका रस ले रहे थे और मैं हल्के-हल्के यह अनुभव कर रहा था कि हम सबको जीवनका एक ही प्रवाह घेरे चल रहा है।

पाँच सौ छह सौ क्या ?

डाक्टर भी० ला० आत्रेय अपनी व्याख्यान-यात्रा समाप्त कर अमरीकासे लौटे तो मैंने उनसे कई प्रश्न पूछे। उन्हींमें एक यह था—"आप स्वयं एक विद्वान् हैं और इस नाते निरन्तर अपने देशमें विद्वानोंके सम्पर्कमें रहे हैं। अमरीकामें भी आप अनेक विद्वानोंसे मिले होंगे। क्या वहाँके विद्वानोंमें और भारतके विद्वानोंमें आपको कुछ अन्तर दिखाई दिया ?"

डाक्टर आत्रेयने इसका उत्तर दिया था—"वहाँके विद्वान् बहुत 'ऐक्जेक्ट' हैं और कभी अपने अनुभवसे बाहर नहीं जाते।"

ऐक्जेक्ट ? और मैं रुल-सा गया था, तो उन्होंने कहा था—"हमारे विद्वान् निर्णय पहले कर लेते हैं और बादमें अध्ययन करके निष्कर्ष निकालते हैं। हम लोग ऊपरसे नीचे जाते हैं, वे नीचेसे ऊपर आते हैं। बातचीतमें वे उतना ही कहते हैं, जितना उनके अनुभवमें या अध्ययनमें निश्चित रूपसे आ चुका होता है। इसीलिए उनसे मिलकर एक गहराई और स्थिरताका स्पर्श अनुभव होता है और एक निश्चित परिणामपर हम पहुँच होते हैं।"

काम चलाऊ रूपमें उनकी बात मेरी समझमें आ गई थी, पर 'ऐक्जेक्ट' का पूर्ण भाव-स्पर्श मुझे नहीं हुआ था और कभी-कभी यों ही यह ऐक्ज़ेक्ट शब्द मेरे भाव-मानसमें कुछ खोजता-सा टकराया करता था। तभी मैंने पढ़ा चीनी दार्शनिक लिन यू तांगका एक उद्धरण।

उसमें कहा गया था कि अमरीकन और एशियाई मनोवृत्तिमें जो अन्तर है वह इस उद्धरणसे स्पष्ट हो सकता है कि यदि किसी अमरीकन इन्जीनियरको एक सुरंग खोदनेका काम दिया जाय, तो वह इतनी बारीकीसे उसका नक़्शा बनायगा कि दोनों ओरसे खुदती हुई सुरंगें जब कहीं बीचमें

मिलकर एक होगी तो उसकी सीधमे ज़रा भी फर्क नही होगा, पर एशियाई इन्जीनियरका नक्शा ऐसा भी बन सकता है कि दोनों तरफ़से खुदती हुई सुरंगे कही बीचमे मिले ही नहीं और दोनो आर पार हो जाए। मज़ेदार बात यह है कि यदि अमरीकन इन्जीनियरकी सुरगमे २-४ इंचोंका फर्क रह गया, तो वह इसे अपनी बहुत बड़ी हार मानेगा, पर एशियाई इन्जीनियर सुरगके बीचमे कही न मिलनेपर भी कहेगा—चलो कोई बात नही एक नही तो दो रास्ते हो गये!

पढ़कर खूब हँसी आई, पर ऐक्ज़ेक्टका ऐक्ज़ेक्ट अर्थ पूरी तरह समझमे आगया। ऐक्ज़ेक्ट, एकदम निश्चित, जिसमें बाल बराबर फर्क न हो!

हम उन दिनों अपने ज़िलेके शारीरिक प्रदर्शन समारोहकी तैयारियाँ कर रहे थे। रुड़कीका फ़ौजी मैदान इसके लिए चुना गया था। एक दिन प्रदर्शनके मुख्य विधाता भाई गंगाधर सिंह प्रबन्ध-व्यवस्थाके सबंधमे छावनीके फौजी अधिकारीसे मिले। बातो-बातोंमे अधिकारीने पूछा—'प्रमुख दर्शकोंके लिए आपको कितनी कुर्सियाँ चाहिएँ?'

सादगीसे गगाधरसिंह बोले—"यही पाँच छ. सौ कुरसियाँ काफी होगी।"

झपाटा मारते-से अधिकारीने कहा—"यह पाँच सौ छह सौ क्या, ५०६, ५१३, ५२५, ५७२ ५८५, ५९५ या ६०० कहिये।"

सचाई यह है कि विचारोंमे, बातोमें और व्यवहारमें ऐक्जेक्ट होना, सुनिश्चित होना जीवनकी ऊँचाईका मानदण्ड है। उस दिन मै और श्री ओमप्रकाश मित्तल कही जा रहे थे कि एक मित्र मिले। बोले—"कल किसी समय आपसे मिलने आऊँगा।"

मित्तलजीने कहा—"किसी समय नहीं, इसी समय बताइये कि किस समय आइएगा?"

बात हँसकर कही गई थी, पर ठीक थी, क्योंकि 'कल किसी समय' में दिनके १०-१२ घण्टे तो थे ही, रातके ४-५ घण्टे भी शामिल थे। इस दशामे कोई किसीसे मिलनेको कबतक बैठे; और खासकर उस दशामें जब कि उनका आना-न-आना दोनों सभव है!

वे बोले—"दोपहर बाद आऊँगा।"

वही बात कि वे अपने कार्यक्रममे ऐक्ज़ेक्ट नही थे। न एक बजे, न ढाई बजे, न सवा चार बजे, न पौने पाँच बजे—बस दोपहर बाद!

यही सामने आ गया है गाँधीजी और सरदारका एक मजेदार संस्मरण। दोनों किसी मसलेपर बाते कर रहे थे कि रोककर सरदारने कहा—"अजी, छोड़िए इन बातोको और यह बात बताइए कि कितनी खजूर भिगोऊँ?"

"पन्दरह खजूर भिगो दो।" गाँधीजीने कहा।

"पन्दरह नही, बीस भिगोता हूँ—अन्तर ही क्या है पन्दरह और बीसमें!" सरदार बोले।

"अच्छा, तो दस भिगो दो।" गाधीजीने कहा।

"ऐं! दस ही?" सरदार चौके, तो गाँधीजीने कहा—"ऐं क्या; जब पन्द्रह और बीसमे अन्तर नही। तो दस और पन्द्रहमें ही क्या अन्तर है?"

दस और पन्द्रहमे जो अन्तर है, सो तो है ही, पर सात और आठमे उससे भी बडा अन्तर है, यह उस दिन जाना।

"कहो भाई किस गाडीसे जा रहे हो?" श्रीओमप्रकाश मित्तलने एक मित्रसे पूछा, तो बोले—"सात-आठ बजेवाली गाडीसे जा रहा हूँ।"

मुस्कराकर मित्तलजीने कहा—"आपको गाड़ी अवश्य मिल जायगी।"

"क्यों, क्या बात है?" उन्होंने पूछा, तो उत्तर मिला—"नही,

कोई खास बात नहीं, सिर्फ यह बात है कि आप सात बजे स्टेशन गये, तो आपको दिल्ली जानेवाली गाडी मिलेगी और आठ बजे गये, तो अम्बाला जानेवाली, पर गाडी जरूर मिलेगी।"

ओह, एक घण्टेका इतना मूल्य कि पूर्वको जानेवाला यात्री पश्चिमको चल पडे। फिर घण्टा ही तो समयकी सबसे छोटी इकाई नहीं है! उसका साठवाँ भाग मिनट है और उसका भी साठवा भाग है सेकेंड! देखी तो होगी आपने सेकेण्डकी सुई, जो पलक झपकते अपना चक्कर पूरा कर लेती है?

और यह मिनट और सेकेण्ड, इतने शक्तिशाली तत्त्व हैं कि मनुष्यका भाग्य बदल सकते है, क्योंकि यदि आपके जन्मका समय नोट करनेमें माता-पिता जरा भी चूक गये हो, तो फलित ज्योतिषके अनुसार आपका जन्म-लग्न बदल सकता है और उसके कारण आपके भाग्यका पूरा फलादेश भी। इस दशामें आप एक अच्छी दुलहन पानेसे वंचित रह सकते है; क्योंकि अब आपकी कुण्डली उसकी कुण्डलीसे नही मिलती!

फिर मिनट-सेकेण्डका मामला पुराण-पंथियोका ही तो प्रश्न नही कि हम उन्हें दकियानूस कहकर टाल दें, यह तो एक वैज्ञानिक प्रश्न है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्योतिष सम्मेलनने अपने डबलिन अधिवेशनमें आजके सेकेण्डको बहुत बडा मानकर एक नये छोटे सेकेण्डकी रचना की है। इसके अनुसार ६४।। दिनमें मनुष्यको १ सेकेण्डका, प्रतिवर्ष ५।। सेकेण्डोंका और प्रति ग्यारह वर्षोंमें एक मिनटका लाभ होगा। और भी जरा आगे बढे तो ६५५ वर्षोंमें एक घण्टा!

क्या हम उसे उन वैज्ञानिकोंकी झक मानें? तेनसिह और हिलैरी एक साथ एवरेस्टपर चढे, पर संसारका यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा कि दोनोंमें पहले किसने अपना कदम ऊपर रक्खा? ठीक है कि दोनोंमें बहुत अन्तर नहीं हो सकता, पर इस नगण्य अन्तरके गर्भमें ही एक बडा प्रश्न

छिपा है—'संसारके सबसे ऊँचे शिखरका विजेता पूर्वको माना जाय या पश्चिमको ?' इस बड़े प्रश्नका एक काल्पनिक प्रश्न है, जो इसपर तेज रोशनी डालता है—यदि मंगल लोकके लिए अमेरिका और भारतसे एक साथ दो जहाज उड़े और दोनों ही तीन बजकर पैंतीस मिनटपर मंगलमें प्रवेश करें, तो प्रथम प्रवेशका श्रेय किसे मिलेगा ? निश्चय ही उसे, जिसे इस नई छोटी सेकेण्डका समर्थन प्राप्त होगा।

फिर जीवनमें ऐक्जेक्ट होनेके लिए सेकेंडों, मिनटों, घण्टों या दिनोंका ही तो प्रश्न नहीं है, उसके लिए एक शब्द और एक स्पर्शका भी महत्त्व है। दोनोंका उदाहरण महादेव भाईकी डायरीमें सुरक्षित है।

गांधीजीने उस समयके भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होरको जेलमें एक पत्र लिखाया। उसमें, एक वाक्य था—'मैं आपका बहुत आभारी हूँ' पर बादमें उन्होंने 'बहुत' शब्द निकलवा दिया।

उसी जेलमें एक दिन सरदार पटेल गाँधीजीके लिए सोडा और नीबू पानीमें घोल रहे थे कि उनपर गाँधीजीकी तकड़ी झाड़ पड़ी—"क्या आपको नर्सिंगका एक कोर्स देनेकी जरूरत नहीं है ? देखिए तो, आपने चम्मच ऊपर पकड़नेके बजाय ठेठ मुँहके पास पकड़ा है। यह सारा चम्मच गिलासमें जायगा, इसलिए उस जगह उसको हाथसे छूना ही नहीं चाहिए। और जिस रूमालसे आपका मुँह पोंछा जाता है, उसीसे आपने इस चम्मचको साफ किया। आपको मालूम है कि कोई नर्स आपरेशनके कमरेमें ऐसा करे, तो उसे बर्खास्त कर दिया जाए !"

तो जीवनका नाश करनेवाले दोष प्रमादसे बचिए, ढीलूपन और लूलूपन—दोनोंसे दूर रहिए, व्यवस्था और नियमितताके नियमोंका पालन कीजिए और संक्षेपमें, ठीक तरह काम कीजिए, ठीक समय काम कीजिए ठीक काम कीजिए, यानी ऐक्जेक्ट रहिए !

बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे ?

उस दिन दिल्लीमे एक मित्रसे मिलने सुबह-ही-सुबह उनके घर गया तो मिलते ही बोले—"बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे?" उनकी सालीजी आई हुई थी और वे उनके साथ बिड़ला-मन्दिर जानेको तैयार थे। मेरे पास न समय था, न रुचि; मैं कुछ देर मित्रसे बातें कर चला आया।

बाजारसे कुछ चीज़ें खरीदी और तब एक दूसरे मित्रके घर जा निकला। समयकी बात, उनके भी कुछ सगे-सबधी आये हुए थे और वे कही जानेकी तैयारीमे थे। छूटते ही पूछ बैठे—"भाई साहब, बिड़ला-मन्दिर देखने चलोगे?" मुझे जाना नही था, लौट आया।

दो-चार गलियाँ पारकर चाँदनी चौकमें आया ही था कि एक मोटर मेरे पास आकर ठहर गई। देखा, पूरे परिवार और कुछ दूसरोके साथ मोटरमे भरे वे कही जा रहे हैं। वे, मेरे एक मित्र और बस वही प्रश्न—"चलिए, चलते हैं बिड़ला-मन्दिर देखने?"

मैंने हाथ जोडे और आगे बढा, पर देखता हूँ एक प्रश्न सामने खडा है—ये सब बिड़ला-मन्दिर देखने जा रहे है, तो क्या यह विशाल मन्दिर सिर्फ देखनेके ही लिए है?

जानता हूँ देखना जीवनका कोई साधारण सुख नहीं है, आँख है, तो जहान् है, पर मैं एक आस्तिक प्राणी हूँ और अशान्तिके अनेक अवसरोपर मन्दिरोके वातावरणमे शान्ति पा चुका हूँ। हरद्वारमे मीलोकी चढाई चढकर अनेक बार मैं चण्डीके मन्दिरमे पहुँचा हूँ और फिर वहाँसे नीचे उतरकर गौरीशकरके मन्दिरमें गया हूँ, शाकम्भरीके वनमे बिहरा हूँ और हृषीकेशके वनको पारकर आकाश तकको चढ़ाई चढ मैंने नीलकण्ठके मन्दिरमें भी अपनेको पाया है।

ये सब तीर्थ हैं और जीवनके निर्माणमें, उसे बहिर्मुखतासे मोड़कर अन्तर्मुख करनेमें सहायक-साधन हैं। मैं जब पहली बार बिड़ला-मन्दिर गया था, मुझे यह बात खटकी थी कि वहाँ कोई पूजन नहीं कर सकता, केवल दर्शन कर सकता है, पर दर्शन भी देखना ही रह गया है, यह आज जाना।

दिल्लीका लाल किला भी देखना है और बिड़ला-मन्दिर भी; वैसे ही, जैसे संसद-भवन भी और क्या वैसे ही कि जैसे सिनेमाका कोई शो भी ?

दर्शन और देखना, देखना और दर्शन, दोनों मेरे भीतर आगे-पीछे घूम रहे हैं। वे क्या घूम रहे हैं, मैं ही घूम रहा हूँ। घूम इतनी तेज है कि अपनी प्रौढ वयमें ही मैं कोई ५-६ वर्षका बालक हो गया हूँ और हरिद्वारमें गंगा नहाने पहुँचा हूँ। माँ मेरे साथ है और वह चाहती है कि मैं गंगामें घुसकर गोते लगाऊँ, पर इतनी विशाल गंगा और यह तेज धारा, मेरी हिम्मत नहीं होती।

माँ जलसे ऊपरकी पैड़ीपर बैठ गई और उसने मेरा एक हाथ मजबूतीसे पकड़कर मुझे दो पौड़ी जलमें उतार दिया। माँ के हाथमें मेरा हाथ है और मैं छबकछब नहा रहा हूँ—वाह, क्या आनन्द है ?

और बस मैं फिर बालकसे प्रौढ़ हो गया हूँ। देखता हूँ चाँदनी चौकमें चला जा रहा हूँ, मेरे भीतर घूम रहे हैं दर्शन और देखना, देखना और दर्शन और मैं अब पकड़ पा रहा हूँ जीवनका यह सत्य कि दर्शन है माँ का हाथ पकड़कर गंगामें नहाना !

क्या मतलब ? हाँ, ठीक है, सत्यका सूत्र हाथ आ गया है और उसकी व्याख्या अभी शेष है। हम देवताकी मूर्तिके दर्शन करते हैं, तो माँका हाथ पकड़कर नहाते ही तो हैं। मनुष्यके भीतर, उसकी पार्थिव देहके अन्तरमें चैतन्यकी एक विशाल और तेजस्वी धारा बहती है, पर अपनी बहिर्मुखता-

मे डूबे हम उसमे उतर नही पाते, उसके स्पर्शका सुख नही ले सकते, तो अपनी सारी बहिर्मुखताको बाहर स्थित देवताकी प्रतिमामें थमा-अटका, भीतर बहती चैतन्यकी उस धाराका एक नन्हा-सा स्पर्श ले लेते है। यही दर्शन है।

और देखना फिर क्या है ? प्रश्न ठीक है। देखना एक तो देखना ही है कि जो आँखोके सामने आया दिख गया—देख लिया और एक देखना है विशेष वस्तुका देखना; लाल किलेका देखना, किसी दूसरी सुन्दर वस्तुका देखना, उसका देखना जिसे हम प्यार करते है। यह देखना ही असलमे देखना है और इसका अर्थ है अपनी सारी बहिर्मुखताको, जो यहाँ वहाँ बिखरी है, किसी बाहरी, पर विशेष वस्तुमे एकत्रित करना।

और लो, खरीजका रुपया बनाये दे रहा हूँ—दर्शन है आन्तरिक एकाग्रता और देखना है बाहरी एकाग्रता। पहली विकासका पथचिह्न है और दूसरी विलासका।

दर्शन और देखनाकी धूम पूरी हो गई है, पर एक नया प्रश्न फूट आया है—तो क्या बिडला-मन्दिर भी हमारी 'लक्जूरियस लाइफ' का ही एक चोचला है—वह जीवनकी विलासिताका ही एक अग है ? उसका कार्य हमारा मनोरजन करना ही है, मानस-विकास नही ? वह दर्शनकी भी नही, बस देखनेकी ही एक चीज है ?

मेरे पैर सड़कपर इच्छित दिशामे बढे चले जा रहे है, पर मस्तिष्कमे वही प्रश्न घूम रहा है—तो बिडला-मन्दिर भी देखना है और लाल किला भी; वैसे ही जैसे ससद भवन और वैसे ही, जैसे सिनेमाका कोई शो भी ?

पैरोका काम पूरा हो गया और यह लो मै अपने मित्रके द्वारपर हूँ। भीतर गया तो देखा, मित्र तो नही है, उनकी पत्नी है। उन्हे देखते ही मेरा प्रश्न जैसे फूट पडा—"आपने कभी बिड़ला-मन्दिर देखा है भाभी ?"

उत्साहसे बोली—"हाँ भैया, देखने लायक़ जगह है, वह तो! हमारे यहाँ कोई मेहमान आता है, तुम्हारे भाई साहब उसे जरूर दिखाने ले जाते हैं। क्यों तुमने नहीं देखा क्या ?"

उनके उत्साहसे मैं और गहरेमें उतर गया। हर चीज देखने लायक पर पहुँचती है और मनकी उधेड़ बुन यह है कि वह कुछ और हो, पर नहीं, देखने लायक ही है बिड़ला-मन्दिर! मेरी आस्तिकता विह्वल होकर पूछती है—अरे देखने लायक तो हर तमाशा होता है, इसे तो तीर्थ होना चाहिए, जहाँ निर्माणकी प्रेरणा मिले, निर्माणका उद्बोधन !

मुझे लगा कि मेरे भीतर एक आँधी चल पडी है—विचारोंकी, मन्थनकी, चिन्तनकी आँधी और उसीमें कहीसे सुन पडी यह बाँसुरी—"मूर्ख, धन तमाशेका ही निर्माण कर सकता है, तीर्थका नहीं; तीर्थका निर्माण करनेकी शक्ति तो केवल तपमें है!"

आँधी शात हो चली है और तीर्थके वातावरणसे मेरा मन भर उठा है। मैं यह भूल गया हूँ कि कहाँ, किसके निकट हूँ और मेरी आँखें बद हो गई हैं, हाथ भी परस्पर आ जुड़े हैं।

भाभीने मुझे इस मुद्रामें देखा है और चुटकी ली है—अरे भाई, यह क्या पूजा-सी कर रहे हो ?

प्रश्नने मुझे समेट लिया है, मैं अपनेमें सिमट आया हूँ, पर अनुभव कर रहा हूँ कि मैं अभी हाल किसी तीर्थमें भक्ति भावसे आत्मचिंतन कर लौटा हूँ।

छोटा-सा पानदान; नन्हा-सा ताला

उस दिन दिल्ली जा रहा था। खेतोंमे प्रकृतिका महोत्सव हो रहा था। उगे-उभरे गेहूँके खेत, हरी मखमलके कालीनसे और बीच-बीचमे पका-पनपा ईख,सरसोंकी पीली छिटक, तो मटरके तितलियोसे होड बाँधते रंग-बिरंगे फूलोकी बहार। देखो तो आँखे ठंडी हों, सोचो तो दिमागमें कारीगरीके पौधे खिल जायें और समझो तो बस समझनेको कुछ बाकी न रहे; जंगलका हर पत्ता एक उपन्यास हो रहा था।

इसी उपन्यासको पढ़ते-पढते रेलके डब्बेमे झाँका, तो देखा मेरे सामने-वाले सज्जन अपने छोटेसे पानदानसे निकालकर पानका टुकड़ा खा रहे हैं। अरे साहब, उन्होने पान खाया और पानदानपर एक नन्हा-सा ताला लगाकर रख दिया।

मैं फिर अपने खेतोंमे उलझ गया और यो ही फिर डब्बेमे झाँका, तो वही दृश्य कि उन्होंने पानदान निकाला, ताला खोलकर पान लगाया-खाया और सावधानीसे ताला बन्दकर रख दिया।

क्या इस आदमीके इतने दुश्मन है कि इसे पानमे भी विषका भय है? या यह आदमी इतना सकीर्ण है कि अपना पानदान अपनोसे भी अछूता रखना चाहता है?

ये दो प्रश्न मनमें उठे तो सही, पर इनका समाधान कैसे हो? यह लिपटी हुई जन्मपत्री खुले कैसे?

मैंने उस आदमीकी आकृतिका अध्ययन आरभ किया। उम्र कोई ६० साल, स्वास्थ्य साधारण, चेहरेपर कठोरता और रौब। मुझे लगा कि पानदानके तालेका मार्ग कहीं इधर ही है और तब मैने उन्हे बातचीतकी खरादपर चढ़ाया। पता चला कि हजरतके घरमे बेटे है, पोते हैं, पोतियाँ

हैं, बहुएं हैं, पेंशन आती है, घरवाली मर गई है, बेटे मामूली हालतमें हैं—पढ़ानेकी बहुत कोशिश की, पर पढ़े ही नहीं कम्बख्त। आप भी मामूली उर्दू जानते हैं। पिछली लड़ाईमें लड़े थे। कई इनाम मिले। अब रुपया सूदपर चलाते हैं।

इस जानकारीको मथकर मैंने यह सार निकाला। बूढ़ा, अपत्नीक, फौजी और सूदखोर। विषका इसे खतरा नहीं, लोभ और चिड़चिड़ेपनकी तस्वीर है यह ताला।

अब मुझे अपनी परीक्षा करनी थी। मैंने प्रश्नका बाण निशानेपर रक्खा—"मालूम होता है किब्ला, पोती-पोते बहुत तंग करते हैं। इस तालेसे आपने उनका खूब इलाज किया है।"

बूढ़ेकी आवाज़ गले आते-आते रुकी, तो मैंने सिसकारी दी—"सचाई यह है बड़े मियाँ कि बच्चोंका हाथ पड़नेसे पानका मज़ा किरकिरा हो जाता है।" बूढ़ेजी खुल पड़े—"बच्चे तो हैं ही साहब, पर बहुएँ उनसे भी बढ़कर शैतानकी परकाला हैं। एक मिनट चैन नहीं लेने देती—ज़रा आँख बची कि पान साफ।"

मैं अपनी परीक्षामें पास हो गया था और अब बूढ़ेमें मुझे कोई दिलचस्पी न थी, तो मैं फिर अपने खेलोंमें था और सोच रहा था—यह ताला बूढ़ेके पानदानपर नहीं, जीवनके आनन्द स्रोतपर ही लगा हुआ है।

मेरे गलेमें एक गुनगुनाहट आ समाई और उसमेंसे प्रस्फुटित हुईं रवीन्द्रनाथकी वे पंक्तियाँ, जिनका भाव है—"मैं पाप और कलमषसे अपनेको बचानेके लिए, चारो ओरके द्वार बन्द कर बैठ गया। बाहरसे सत्य-पुण्यने पुकारा, द्वार बन्द हैं, कैसे हम तुझतक आयें?"

ठीक ही है, जो तालेमें बन्द है, उसतक कोई कैसे पहुँचे? फिर वह कोई सत्य हो या पुण्य, आनन्द हो या रस।

[२]

और ताला, क्या लोहे पीतलका ही ताला; जैसा बड़े मियाँने अपने पानदानपर लगा रक्खा है ?

प्रश्न अजीब है; अजीब कुछ अद्भुत नही, निरर्थक-अर्थहीन, क्योंकि ताला होता ही लोहे पीतलका है, पर ना, प्रश्न सार्थक है—सार्थक ही क्यो बहु-अर्थक है, अनेक अर्थवाला।

निरर्थक और सार्थककी समीक्षामें ध्यान ८००० फीट ऊँचे एक पर्वतीय नगरमें चला गया है। लताओंका एक निकुंज और उससे सटकर बिछी सीमेंटकी बेंच। पर्वत, वन, एकान्त और शीतल वातावरण। मैं बैठा हूँ, कही आस-पास कोई नही है, आँखोंमें पर्वतके शिखर है, तो मनमें भारतके भविष्यकी झाँकी। जीवनके कितने स्रोत प्रवाहित हो रहे है उस भविष्यमें कि सारा वातावरण रससे ओतप्रोत है। वाह, कैसे सजीव गाँव, कैसे लहलहाते खेत, हँसते-खेलते बालक, उभरते तरुण, उत्फुल्ल रमणियाँ और शान्त-प्रसन्न बूढ़े। गाँवकी यह ताजगी मुझपर छाई जा रही है।

तभी तीन सज्जन कहींसे उस बेंचपर आ गिरे! अशिष्ट होकर नही, सत्यदर्शी होकर कह रहा हूँ—आ गिरे! कोई एकान्तमें आकर जाने किस ध्यानमें बैठा है, इसका उनके लिए कुछ अर्थ ही न था। मैं उन्हे देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ ये तीनो भौन्दू पढ़े लिखे हैं, पर इन्हे यह ध्यान ही नही है कि कहाँ बैठे, कैसे बैठे और कैसे बातचीत करें। मैंने झुककर उन तीनोंके पैरोंकी ओर झाँका। उनमे कोई भी लगड़ा न था। इस बेंचसे कुछ दूर आगे दूसरी अनेक बेंचे बिछी हुई थी और यह दस कदम चल वहाँ बैठ सकते थे, पर नही इन्हे यही बैठना था।

बातोंसे जाना कि तीनों तीन कालेजोंके प्रिंसिपल है। एक बोले—"बड़े धूर्त होते हैं हमारे स्टूडेण्ट। ऐसी सफ़ाईसे धोखा देते है कि बड़े-

बड़े जालसाजोंको मान माननी पड़ती है।" दूसरा उभरा और उसने विद्यार्थियोंकी धूर्तताके कई किस्से सुनाये। तीसरा शिक्षा-विभागके अधिकारियोंकी बेवकूफियोंका वर्णन करने लगा और बस उनकी बातें उनके कालेजोंके क्लासोंके घेरेमें घूमती रहीं।

मैं थोड़ी ही देरमें ऊब गया और उठ चला। चलते-चलते मैंने सोचा— विचारोंकी संकीर्णतामें कुएँके मेंढकको सबसे अधिक अभागा कहा गया है, पर ये प्रिंसिपल क्या उनसे भी अधिक अभागे नहीं है कि पर्वतोंकी इस प्राकृतिक गोदमें बैठकर भी अपनी चारदीवारीके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते!

एक दूसरी बेंचपर बैठते-बैठते मेरे मनमें आया—सरकार उपयोगिताके आधारपर अपने नियम बनाये, तो इन तीनों और इसी तरहके दूसरे अध्यापकोंको गरमीकी छुट्टियोंमें स्कूल-कालेजोंके पाखानोंकी धुलाई, छतोंकी घास-खुदाई, दीवारोंकी लिपाई, कमरोंकी पुताई और आँगनोंकी सफाईके काममें लगाये। एक दिनके लिए भी कहीं जाने न दे!

इस घटनाको हुए, बरसों बीत गये, पर आज सोचा—क्या बड़े मियाँके पानदानकी तरह इन लोगोंके दिमागोंपर ताला नहीं लगा था? और लगा था—हाँ, लगा ही था—तो क्या यह ताला लोहे-पीतलका था? ना, यह वातावरणका ताला था, उस लोहे-पीतलके तालेसे भी अधिक कठोर और मजबूत!

[३]

दिल्लीकी यात्रामें एक दृश्य सदा ज्यों का त्यों मुझे देखना पड़ता है। मुजफ्फरनगरसे कुछ लोग रेलके डब्बेमें आजाते हैं और मेरठतक चलते हैं। डब्बेमें ये १०-५ आदमी क्या आते हैं, नई मण्डी ही घुस आती है— उड़दका भाव, गेहूँका भाव, गुड़का भाव, मीझेका भाव और सरसोंका

भाव तो तुलता ही है, बीजकोंके सौदे भी छनते हैं और आढ़तियोंकी चाला-कियाँ भी खरादपर आ जाती हैं। ये लोग इतने ज़ोर-ज़ोरसे बोलते हैं, कई-कई एक साथ बोलते हैं कि और कुछ सोचना असंभव हो जाता है। असम्भव क्या, बस उतनी देर दिमागको मण्डीकी खत्तियोंमें बन्द रखना पड़ता है।

उन बेचारोंको देखकर, मन दयासे दवित हो जाता है और मैं सोचने लगता हूँ, इनके लिए दुनियामें खत्तियाँ हैं, बीजक हैं, भाव हैं, और बस और कुछ नहीं है, कुछ भी तो नहीं है—उनमेंसे कोई मेरा दैनिक माँगकर देखता भी है, तो बस मण्डियोंके भावोंका पन्ना ही पढ़ता है।

और मुझे याद आ जाते हैं अपने नगरके वे दूकानदार, जो मंगलकी छुट्टीके दिन भी अपनी तालाबन्द दूकानके बाहरी तख्तेपर ही पसरे जम्भाइयाँ तोड़ते रहते हैं और उन्हींके शब्दोंमें जिनको शिकायत है—"बाबूजी, यह अच्छी मनहूस छुट्टी है कि दिन काटे नहीं कटता!"

[४]

विद्वान् तपस्वी और संन्यासी, तीनों गुण एक साथ और रूँगामें कर्मठ भी—रात-दिन धर्म-रक्षाकी चिन्तामें लीन। यों ही एक बार मुझे भी सम्पर्क प्राप्त हो गया। घण्टों साथ रहा, पर उनकी किसी बातका सम्बन्ध न विद्वत्तासे, न तपस्यासे, न वैराग्यसे, न कर्मसे। हर बात १६ वीं सदीकी, हर बात जड़ताकी और हर बातका बस यही अर्थ कि ज्ञानका सूर्य, अतीतमें निकल चुका, बुद्धिकी रोशनी सदियों पहले फैल चुकी। आजके मनुष्यको कोई नई बात नहीं सोचनी—किताब देखकर तिलिस्मके दरवाजे खोलते जाना है।

देख-सुनकर बड़ी दया आई कि बेचारा घर कुटुम्बकी ममताका घेरा तोड़कर सफ़ेदसे रंगीन हो गया, पर विचारोंके तालेको न तोड़ सका।

छोटा-सा पानदान; नन्हा-सा ताला

मेरे नगरके ही एक सज्जन हैं। २१ वर्षकी उम्रमें पुलिस दारोगा हुए थे, ५७ की उम्रमें पेंशन पाई और अब ८२ वर्षके हैं। यों समझिये कि चौथाई सदी पहले दारोगा थे, पर आज भी सारा शहर दारोगाजी कहता है। कोई भूला-भटका बाबूजी कह दे, तो उन्हें ऐसा लगता है कि यह मेरी चपरास छीन रहा है। तालेमें बन्द हैं बेचारे और क्या?

एक और परिचित हैं। मर-मारकर डिप्टी हो गये हैं और अब उनकी बीबी और बेटा, तो उन्हें डिप्टी कहते ही हैं, पर दुखी हैं कि माँ अब भी उनका नाम ही लेती हैं, उन्हें डिप्टी नहीं कहती।

अजी छोड़िए इस डिप्टी और दारोगाको, वर्माजी और केशोजीको लीजिये। वर्माजी विख्यात लेखक हैं और लेखक क्या है लेखकोंके महन्त हैं। पहली बार मैं दर्शन करने गया, तो बहुत प्रभावित हुआ उनकी बातोंसे। अपने संग्रहकी कथा उन्होंने सुनाई और तब कई नेताओंके संस्मरण। मैंने सोचा—ज्ञान, संग्रह और संपर्क, तीनों दृष्टियोंसे ये महान हैं और उठते-उठते जब उन्होंने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित मेरे एक लेखकी प्रशंसा की, तो उनकी स्मरण शक्ति और सहृदयताका मुझपर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा।

और केशोजी? वे एक बड़े नगरके पत्रकार हैं। कोई ३० वर्ष हुए एक साधनसंपन्न साथी उन्हें मिल गया था और वे भभक उठे थे। तब उस नगरमें वे ही वे थे। कोठी थी, फोन था, कार थी, रौब था, धूम थी—अजी, क्या न था, यह था, वह था सभी कुछ था। कुतुबमीनारसे लुढ़के कि बस लुढ़के और फिर उठनेका नाम नहीं लिया।

जब पहली बार मिले, तो उसी सूर्योदयकी कथा कही और जिन अनेक लेखकोंको मैं सिर झुकाता हूँ, उन्हें अपना निर्माण बताया। उनकी विशिष्टताका मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा।

यह प्रभाव काफी गहरा था, पर दूसरी बारके मिलनमे वह कच्चे रगकी तरह उड गया; क्योकि वर्माजीने और केशोजीने मुझसे वे ही बाते की—दूसरी बार ही नहीं, तीसरी, तीसवीं और सौवी बार भी बातोका घेरा वही रहा और अब तो मेरे मनकी स्थिति स्पष्ट है कि उनसे मिलता हूँ, तो पहले ही एक पुराना और घिसा रिकार्ड सुननेके लिए अपने कानोको तैयार कर लेता हूँ।

स्पष्ट है कि वर्माजी और केशोजी और ऐसे ही दूसरे सैकडो-हजारो जी समयके तालेमें बन्द हैं—उससे बाहर झाँकनेकी न उनमे इच्छा है, न शक्ति—ओह, बेचारे अपने ही समयके क़ैदी, एक ऐसे तालेम बन्द, जिसके निर्माता भी वे स्वय ही हैं।

[५]

अब्राहम लिकन अमरीकाके प्रेजीडेंट और अपने समयकी दुनियाके बड़े आदमी, जिनके चारों ओर काम ही काम।

कार्यालयसे लौटकर अपने मकानमे थे कि उनका राज्य-सचिव उनसे मिलनेको आया। प्रेजीडेटने कहलाया "इस समय राज्यकी, राजनीतिकी बात मुझे पसन्द नही, मै अपनी घरेलू जिन्दगीके वातावरणमें हूँ।"

राज्य-सचिवको देशके एक नाजुक मामलेमें उनका आदेश लेना है और इस आदेशके मिलनेमें विलम्ब हो, तो देशकी हानि हो सकती है, यह अनुरोध उनतक पहुँचा, तो उन्होंने राज्य-सचिवको भीतर ही बुलवा लिया।

प्रेजीडेट अपने भीतरके बरामदेमें एक घुटन्ना और बनियान-सा पहने घुटनों और पजोके बल घोडा बने हुए घूम रहे थे और एक सवारके रूपमें उनका बच्चा उनकी पीठपर बैठा उन्हें हॉक रहा था।

सचिवसे उन्होंने कहा—देखते है आप कि यह राज्यका नही, मेरे बच्चोंका समय है और इस समय मैं किसी देशका शासक नही, इनकी एक

सवारी भर हूँ। इसलिए आपकी बात सुननेके लिए रुकना तो मेरे बसका नहीं, हाँ, मेरे साथ घूमते-घूमते आप अपनी बात कह सकते हैं और मेरा आदेश सुन सकते हैं।

विख्यात दार्शनिक कांट जिस दिन अपने घर रहते, भोजनपर भिन्न-भिन्न विषयोंके २-३ विद्वानोंको निमन्त्रित करते थे। उनका नियम था कि वे अपने विषयकी बात न चलाकर दूसरोंकी बात सुनते रहते थे।

पोपको जब समाजके लोगोंने अभिवादन किया, तो हाथ उठाकर पोपने उसका जवाब दिया। उन्हें बताया गया कि पोपके लिए अभिवादनका उत्तर देना आवश्यक नहीं है।

उन्होंने कहा—मुझे पोप बने अभी इतना अधिक समय नहीं हुआ कि मैं प्रथाओंका बन्दी हो जाऊँ और मनुष्यताके साधारण नियमोंको भुला दूँ।

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनने उत्तर प्रदेशकी विधान सभाका स्पीकर (अध्यक्ष) चुने जानेपर भी पार्टीकी सदस्यता छोड़नेसे इकार किया, तो विरोधी दलने कहा—संसारमें यही प्रथा है कि स्पीकर किसी पार्टीका सदस्य नहीं रहता।

टण्डन जीने कहा—मेरा काम पुरानी प्रथाओंको तोड़ना भी है और नई प्रथाओंको बनाना भी।

जीवनकी स्वतन्त्रताका तकाजा है कि हम अपनेको तालेमें बन्द होनेसे बचाएँ। यह ताला लोहे-पीतलका ताला हो या वातावरणका, या फिर अन्धविश्वासका, झूठी प्रतिष्ठाका या पुरानी प्रथाका।

जीवनका सुख बन्दी होनेमें नहीं, उन्मुक्त होनेमें है। तालोंसे बचिये और लगे तालोंको तोड़िये!

शरद् पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

[१]

किसी भी पूर्णिमाकी रात मुझे उल्लास और मस्तीसे भर देती है, फिर उस दिन तो थी शरद् पूर्णिमाकी रात; उन्मद, खिलखिलाती और पूरे जगको अपने आँचलमें समेटे उमड़ी पड़ती-सी।

फिर मैं मध्यभारतकी आनन्दपूर्ण यात्रासे लौटता; और निर्बन्ध तो नहीं, पर निर्बाध दौड़ी चली जा रही देहरा एक्सप्रेसपर सवार !

यह है छोटा-सा मोडक स्टेशन, जहाँ मध्यभारतकी उर्वरा श्यामा धरित्री राजस्थानकी रक्त-सिंचित पथरीली पृथ्वीसे गले मिलती है।

राजस्थानी इतिहासके रोमांचकारी पृष्ठों और चाँदनीकी अठखेलियोंमें आँखमिचौनी-सी खेलता मैं अपनी खिड़की पर बैठा हूं।

दूरपर पहाड़ियाँ हैं, बीचमें जंगल हैं, मैदान हैं, कहीं-कहीं छोटे झरनोंका धीमा प्रवाह है और पुराने किलोंकी टूटी चारदीवारियाँ, चौकियोंकी बुर्जियाँ बिखरी पड़ी हैं।

कोई कहने-बतानेकी बात है कि ये जड़ खण्डहर हैं—निर्जीव निरे पत्थर, पर क्या यह भी कोई कहने-बतानेकी बात है कि इन खण्डहरोंमें हरेकका एक जीवित व्यक्तित्व है—बोलता-जागता, प्राणोंकी धड़कनोंसे स्पन्दित होता, पुकारता और ललकारता व्यक्तित्व !

हमारे कहानीकारोंको प्लाट नहीं मिलते, लेखकोंको विषय नहीं सूझते और भावोंकी तितलियाँ कवियोंकी पकड़से ऊपर उड़ा करती हैं। काश, ये सब इन जड़-जीवित खण्डहरोंकी बातें सुनें और यहाँ बिखरी कहानियों, लेखों और कविताओंको बटोरें—बटोरें कि बटोरते ही रहें !

गाड़ी चल रही है कि पहाड़ियाँ ? पुराण कहते हैं पहले वे उड़ा करती

थी; उड़ा करती होंगी, पर आज तो वे स्थिर हैं। फिर यह क्या कि कभी व पास आ जाती है और कभी फिर दूर सरक जाती है ? क्या वे अपने मनकी कोई बात मनुष्यसे कहनेको उत्सुक है, पर झिझकती हैं कि उनकी बात यह आदमी समझेगा क्या ?

और अचानक मैं अपने डब्बेमें झाँक रहा हूँ, तो उसमें ७-८ सहयात्री हैं। क्या कर रहे हैं ये लोग ? एक तो पढ रहे हैं गन्दी कहानियोकी कोई पत्रिका, दूसरे एक सी. आई. डी. सिरीजकी जासूसी पुस्तक, दो फूंक रहे हैं सिगरेट और कलेजा, २-१ कर रहे है बकवाद; यानी कोस रहे है जवाहरलालको और उन प्रश्नोंपर दे रहे हैं धड़ाधड़ सम्मतियाँ, विशेषज्ञोंकी तरह, जिनका अभी अ आ इ ई भी वे नही जानते और बस एक है कि लिखे जा रहा है सोच-सोचकर अपना हिसाब !

और बाहर चाँदनी बरस रही है, जिसमें जीवन है, आनन्द है, रस है, एकाग्रता है।

पहाड़ियाँ दूर चली गई है और जंगलोका स्थान खेतोंने ले लिया है। खेतोंमें हरियाली है, जीवनका सौंदर्य है। मैं देख रहा हूँ कि मैं दोनों ओरके हरे-भरे खेतोंके बीचमें दौड़ा जा रहा हूँ कोई ४०-५० मील प्रति घटाके वेगसे !

कुछ कैसा-कैसा लग रहा है यह ? वैसा नही, वैसा, वैसा नही ! वैसा कैसा जी ? खेत सदासे मेरे मित्र हैं, मैं अक्सर उनके बीचसे गुजरता हूँ; कभी दौड़कर, तो कभी धीमे-धीमे और सदा ही मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं अपने सहृदय मित्रोंकी गोष्ठीमें आ गया हूँ, पर आज मुझे वैसा अनुभव नही हो रहा है।

आज भी मैं उनके बीचमें हूँ, पर उनका वैसा जीवनस्पर्श नहीं पा रहा हूँ। क्या आज वे खामोश हैं ? ना, बात यह है कि मैं आज उनके बीचसे, उनके पाससे गुजर ही कहाँ रहा हूँ—उनके बीचसे गुजर रही है एक्सप्रेस

और उसमे मै बैठा हूँ, तो जब मै उनमे हूँ ही नही, तो उनका मुग्धस्पर्श कैसे पाऊँ?

तो क्या विज्ञानकी हाटपर हम सुखके मोल सुविधा ही खरीद रहे है?

मुझे याद आ गई वह नन्ही-सी चिड़िया जो उस दिन मेरी बराबरीमे उड-उडकर कलाबाजियाँ कर रही थी। मैं रेलके पुलपर खडा था, धरतीसे कई सौ फीट ऊँचे और वही वह उड रही थी।

अचानक मेरे मनमे प्रश्न आया था कि ऊँचाईमे तो मै और यह समान ही है, फिर आकाश-भ्रमणका जो सुख इसे मिल रहा है, मुझे क्यो नही मिल रहा?

चिड़ियाको इस प्रश्नसे खीझ हुई थी और अपनी ची-चीमे उसने कहा था—हम दोनोकी ऊँचाई समान है, पर मैं हूँ यहाँ अपने पखोंके सहारे और तुम खडे हो मुर्दे लट्ठोपर; तुम्हे भला यह सुख कैसे मिले?

चाँदनी बरस रही है खेतोपर, पर्वतोंपर, वृक्षोपर और मैं सोच रहा हूँ उस चिड़ियाकी बात! मन भी कम्बख्त अजीब फुदकैया है कि कहाँ खेत, कहाँ चिड़िया और कहाँ वे एक राज्यके राज्यपाल! पूरे जिलेके दौरेमे मै उन्हे देखता रहा। पार्टियोंमे उनका दिन बीता, तो समारोहोंमे रात; बराबर वे जनताके बीच रहे, पर क्या जन-सम्पर्क था यह? ना, ना, क्यों? क्योंकि उनके पदकी प्रतिष्ठा और राजकीय वातावरणका घेरा जो उनके एवं जनताके बीच बना रहा।

चाँदनीके अथाह सागरमे तैरते हुए मेरे मनने सोचा—हमारे देशके महापुरुष लोकोत्तरताके इसी घेरेमे घिरकर अवतार हो गये—परमात्मा, परम पुरुष, परमेश्वर; उनका जीवन-चरित्र भक्तिकी कथा बन गया, पर हमारे देशकी जनतासे नित्य पूजित होकर भी वे उसकी संकटमें मानो मनौतियोंका ही केन्द्र रहे, उसे चरित्र न दे पाये!

चाँदनी बरस रही है और एक्सप्रेस छोटे स्टेशनोंको छोड़ती, उनपर उपेक्षाकी एक दृष्टि डालती बढी चली जा रही है, जैसे ज्ञानी जगत्के प्रलोभनोको देखता भर है, उनमे उलझता नही।

यह आई छोटे-से स्टेशनकी फाटकचौकी, जिसकी छोटी-सी कोठरीमे रहता है फाटकदारका परिवार, जिसे मिलते है थोडे-से सिक्के, जिनसे वह जी पाता है, पर अपनी दृष्टिमें वह है एक अफसर कि जब चाहे दरवाजा बद कर दे और टुकर-टुकर खडी ताका करे गाँवके ठाकुरकी बैलगाडी ! "कही दूरपर भी रेलका धुआँ दिखाई नही दे रहा !" तो न दिखाई दे, इससे मतलब ? आखिर उसीका निर्णय तो यहाँ माना जायगा कि कब वह फाटक खोले और कब वह बन्द करे !

मै देख रहा हूँ, उसका छोटा-सा कुत्ता अपने पूरे वेगसे गाड़ीके साथ दौडा जा रहा है। बेवकूफ़, क्या खाक दौडेगा भला रेलके साथ ! क्या पिद्दी और क्या पिद्दीका शोरवा ?

पर नहीं, वह जी तोडकर दौड रहा है—घोडों और खोजोंके एक साथ नेता हिजहाइनेस आगा खाँका घोडा भी डर्बीकी दौडमें इससे तेज और क्या दौड़ता होगा ?

तीन पलमें वह पिछड़ गया और अब वह धीरे-धीरे लौटकर जा बैठेगा फिर फाटकदारकी खाटके पास। रोज़ हारता है, पर शर्मसे डूब नही मरता; निर्लज्ज कहीका !

बिना मेरी यह धिक्कार सुने, वह लौटा जा रहा होगा, पर मेरी यह धिक्कार सुन मेरा मन लौट पड़ा है। रोज-रोजकी पराजयसे जिसकी आँखोंमे समाया विजयका स्वप्न और पैरोमे उमडा अभियानका सकल्प परास्त नही होता, वह फाटकदारका कुत्ता हो या किसी राष्ट्रका सिपाही क्या एक प्रेरक चरित्रका संरक्षक नही है ?

प्रश्न गूँज रहा है, चाँदनी स्वर्गका प्रसाद बाँट रही है, एक्सप्रेस दौड़ी जा रही है, पहाड़ियाँ दोनों ओरसे पास आती जा रही हैं,—दराके स्टेशन पर तो लगता है कि वे दोनों हाथोंसे जैसे ऐक्सप्रेसको अपनी ही गोदमें ले लेंगी-माँ जैसे दूरसे दौड़कर आते शिशुको लाड़से थाम लेती है—और डब्बेके साथी यथापूर्व अपनी कहानी, किताब, सिगरेट, बकवाद और हिसाबमें तल्लीन हैं!

[२]

यह आगया गंगापुर स्टेशन, पर यह होहल्ला कैसा है—चढ़ते-उतरते यात्रियोंका होहल्ला तो यह है नहीं, क्योंकि उसकी धुन जिस तारपर चलती है, वह है उतावलापन और यह होहल्ला जिस धुरीपर घूम रहा है, वह है पीड़ासे ओत-प्रोत बदहवासी!

क्या बात है? बात क्या है? बात है यह कि एक डब्बेमें आग लग गई है, वह काट दिया गया है और अब आधी रातके समय उस डब्बेके यात्री प्लेटफार्मपर भाग-दौड़ कर रहे हैं कि सामान सेफ रहे, साथी सब एक साथ रहें और दूसरे डब्बेमे जगह मिल जाय!

हमारे डब्बेके सामने भी १०-१२ आदमी आ खड़े हुए—दीन शरणार्थीकी तरह, जैसे भीतरवाले तो है मालिक और बाहरवाले हैं भिखारी—"बाबूजी, हमें अगले स्टेशन महावीरजी पर ही उतर जाना है। ज़रा-सी जगह दीजिये, आपको बड़ा पुण्य होगा।"

"ऐ! यह इण्टर क्लास है, ड्योढ़ा, ड्योढ़ा, आगे जाओ!" यह जवाहरलालके आलोचक रौबसे गरजे!

"पीछे, पीछे, सब खाली पड़ा है पीछे!" यह जासूसी उपन्यासके पाठकने दरवाजा रोककर कहा।

मैंने दूसरा दरवाजा खोलकर कहा—"इधर आजाइये आप लोग!"

वे सब लोग चढ़ गये और मेरे साथियोंने मुझे घूरा, जैसे किसी भंगीने कर-पात्री स्वामीका दण्ड छू दिया हो, पर मेरे कपड़ोंकी सफ़ेदी उनके कण्ठमें भर-सी गई। बाक़ी यात्री तटस्थ रहे, पर आनेवाले आपसमें इतने ज़ोर-ज़ोरसे बातें करने लगे कि किसीके लिए भी सोना असम्भव हो जाय।

मैं फिर अपनी चाँदनीमें नहाने लगा, पर तभी मेरे मनमें आया यह प्रश्न कि आजके मनुष्यका आकर्षण न प्रकृतिमें है, न मनुष्यमें, तो फिर किसमें है ?

मेरे सामने थे, उसी डब्बेके पहले यात्री, जिनमें कुछ पढ़ते रहे गन्दी कहानियाँ, कुछ जासूसी उपन्यास, कुछ फूँकते रहे सिगरेट, कुछ करते रहे बकवाद और एक लिखता रहा अपना हिसाब ही हिसाब !

और मेरे सामने थे इसी डब्बेके नये यात्री, जो इस चिन्तासे मुक्त थे कि दूसरोंकी नींद खराब न हो।

[३]

तो आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें नहीं है; यह निष्कर्ष मेरे मनमें आया कि वहीं उभर खड़ा हुआ यह प्रश्न—तो क्या आजके आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें नहीं है ?

चाँदनी और चिंतन एक साथ मुझे अभिभूत कर रहे हैं। चाँद-नीमें सौन्दर्य है, जो आँखोंको पलक झपकनेसे रोकता है, तो चिन्तनमें स्मृतियाँ हैं, जो विचारोंके वाहनपर चढ़ी चली आ रही हैं।

एक्सप्रेसके लिए अभी दिल्ली दूर है, पर मैं दिल्ली पहुँच गया हूँ। एक मित्रने वहाँ अपने व्यापारका कार्यालय बनाया और काम करने लगे। बनतीके सभी रिश्तेदार; जाने कितनी गलियोंमें घुमाकर उनके जीवनके चौराहेसे अपने वंशकी रिश्तेदारी जोड़ता एक तरुण आया और उनके कार्यालयमें काम पा गया।

एक दिन शामको एक स्त्री कहीं बाहरसे आई और मेरे मित्रके कमरेमें ठहरी। उस तरुणने जानना चाहा कि यह कौन है, पर जान न पाया।

रातमे उस मित्रके कमरेके पिछले हिस्सेमें सीढी लगाकर चम्पालाल झाँकने लगा कि अपने प्रश्नका समाधान पा ले, पर सीढी धोखा दे, रपट पडी, तो तरुणजी छतसे पत्थरोंपर धड़ामसे गिरे और छिते-सो छिने ही, दो हड्डियाँ भी ककड़ी-सी मडक गई। यह स्त्री मेरे मित्रकी पत्नी थी, जो जोडे हुए रिश्तेसे उस तरुणकी बुआजी हुईं।

[४]

पातमे पात और बातमे बात; मुझे याद आ गया विद्यालयका सह-पाठी शम्भू। किसीका पत्र आये, वह उसे पढ लेता। इधरसे ताकता, उधरसे झाँकता; आगपर सेकता, पानीमे भिगोता; ताला खोल लेता और चील-झपट्टा करता, पर पढता जरूर। पेटका पतला, जो पढता, सबसे गाता-फिरता।

अक्सर इसी धुनमे डाकखाने पहुँच जाता, सबके पत्र ले आता, रास्तेमे कही बैठकर सबको पढता और फिर पत्रके साथ हरएकको नया रिमार्क देता। ये रिमार्क उसके चनाजोर गरम होते। किसीके पत्रमे यदि होता कि उसकी माँ उसे याद करती है, तो रिमार्क होता—"अबे तेरी मतारी स्यापा ले रही है, जाकर आँसू पोंछ आ।" यदि किसी विवाहित विद्यार्थी-की पत्नी अपने पिताके घर चली गई है, तो रिमार्क होता—"अबे बछियाके ताऊ, तेरी जोरू मेरे सालेके साथ भाग गई।"

तग आकर एक योजना बनी और कई पत्र ऐसे आये, जिनमे शम्भूकी माँ बहिनोका स्तुतिगान ऐसे शब्दोंमें किया गया था कि शब्दालंकारोंकी बस प्रदर्शिनी ही समझिये। शम्भूने आदतके अनुसार ये पत्र भी खोले—पढे, तो तबियत तर हो गई और उसने सबके सामने क़सम खा ली।

शरद् पूर्णिमाकी खिलखिलाती रातमें !

मैं सोच रहा हूँ कि चम्पालाल और शम्भू अपने अनन्त रूपोंमें क्या सर्वत्र सुलभ नहीं है? और है, जैसा कि है ही, तो फिर आदमीकी दिलचस्पी आदमीमें कहाँ नहीं है?

हममें कितने है, जो किसीके खुले दरवाज़ेके सामनेसे निकल जायें और पलक मारते भीतरकी एक-एक चीजका सर्वेक्षण न कर लें?

गंगापुरसे चढ़े यात्री महावीरजी पर उतर रहे थे और मैं सोच रहा था—मनुष्यका आकर्षण मनुष्य और जीवनकी भिन्न-भिन्न दिशाओंमें आज भी है, पर वह अस्वस्थ हो गया है और युगके प्रवाहमें स्नानकर उसे स्वस्थ और स्वच्छ होना है।

चाँदनी खिल रही थी, खेल रही थी, बिखर रही थी, बरस रही थी और एक्सप्रेस दौड़ी जा रही थी राजधानीकी ओर। मैंने एक बार पूरी तरह चाँदनीको आँखोंमें भरकर पलकोंसे पलकें मिला दीं।

गरम ख़त; ठण्डा जवाब !

"गरमी खावै अपनेको, नरमी खावै गैरको !"

यह मेरे पिताजीका फार्मूला था।

"सौ गालीका एक गाला, मारी फूँक उडा ।"

यह भी उन्हीका वचन है ।

एक दिन उनके पास जात-बिरादरीके एक चौधरी आये और आते-न-आते गरम होने लगे। मुझे अब याद नही कि क्या बात थी। पिताजीने उनके ५-७ वाक्य सुने और तब सहज भावसे बोले—"चलो भाई, बाँयके कुएँपर चले।"

अब जिस छोटी-सी बगीचीका नाम बॉयका कुआ पड गया है, वहाँ पहले एक वापी थी। अब वहाँ मृत्युके बादका कर्मकाण्ड होता है और एक कोनेमे अखाडा है; जहाँ नगरके कुछ लोग कसरत-कुश्ती किया करते है। वहाँ चलनेका निमन्त्रण उन्हे सहसा पिताजीने दिया, तो वे ऐसे चौंके, सोचमे पड़े कि अपनी भूल गये।

अचकचाकर बोले—"क्या है बॉयके कुएपर ?"

"अखाडा है।" पिताजीने बहुत सादगीसे कहा।

"तो फिर ?"

"फिर क्या था ! तुम्हारा जी इस समय लडनेको कर रहा है और मै हो गया हूँ बूढा, तो वहाँ इब्राहीम मिल जायगा या तोता पहलवान; उनसे तुम्हारा जोड बँधवा दूँगा। बस तुम्हारी तसल्ली हो जायगी और मेरा पीछा छूट जायगा।"

सुनते ही उन्हे हँसी आगई और हँसते ही पिताजीने चायका गिलास

उनके आगे किया। चायकी गरमीमे मिल, उनकी गरमी उनके ही पेटमे चली गई, तो वे लडते क्या?

मॉका स्वभाव गरम था। कभी वे बहुत तेज़ हो उठती, तो पिताजी हॅसकर कहते—"अच्छा सूर्पनखाकी झाँकी फिर सजा लेना; इस समय तो कामकी बात कर।" उनके कहनेका ढग ऐसा होता कि लपटें मुस्कानमे बदल जाती।

एक दिन बोले—जब दूसरा आदमी तुम्हारी तरफ़ जलता अगारा फेके, तो क्या करोगे? गेदकी तरह उसे उचक लोगे, तो तुम्हारा हाथ जल्गा या नही? अक्लमन्दी इस बातमे है कि तुम उसकी सीधसे हट जाओ। यही बात गुस्सेकी है।"

बात बस वही पूरी हो गई, पर आगे चलकर जब मै सस्कृत पाठशालामें पढने गया, तो इसने जीवनमे मुझे एक बड़ा उपयोगी नियम बनानेमे बडी मदद की।

उस पाठशालामे एक विद्यार्थी था। बडी अजीब "हौबी" थी उसकी। वह सबको गालियाँ भरी पर्चियाँ लिखा करता और उनके बदलेमे जब दूसरे भी लिखकर या जबानी उसे गालियाँ देते, तो वह खूब हँसता—दूसरोकी गाल्यिोमे रस लेता और उन्हे अपनी सफलता मानता।

कई बार गुरुजीकी बेतने भी उसे दीक्षा दी, पर इसमे उसने एक नया नुसखा निकाला कि बदलेमे लिखे हुए गाली-पत्र वह सुरक्षित रखने लगा और कभी उसकी शिकायत होती, तो वह उन्हें दिखाकर कहता—"ये लोग ही मुझे गालियाँ लिखते है गुरुजी।"

बस, इसके बाद गुरुजी तक बात पहुँचनी बन्द हो गई और पाठशालामे गालीयुद्ध पूरे जोरोसे चलने लगा। इस युद्धमे वह एक तरफ इकला और दूसरी तरफ बीसों विद्यार्थी। वे उसे छाँट-छाँटकर गालियाँ लिखते, पर व.

रोज एक-न-एक ऐसी नई गढता कि सुनारकी सौ चोटें, लुहारकी एक ही चोटमें पूरी हो जाती।

जान-पहचानके बाद एक दिन उसने मुझपर अपना निशाना साधा और एक छोटे छात्रके हाथ मुझे पर्चा भेजा। लिखा था—'मेरी कानी जोरूके भाई साहब—दूसरे शब्दोंमें—मेरे प्यारे सालग्रामजी, क्या आपके पास एक नया निब है?"

पर्चा पढ़कर जी भुन गया, पर तभी मुझे अपने पिताके बोल याद आये। तुरन्त मैंने एक पर्चेके साथ नया निब उसे भेज दिया। पर्चेमें मैंने लिखा था—"प्रिय भाई, आपका पत्र पढ़कर खूब हँसी आई। तुम तो बीरबलके अवतार मालूम होते हो। निब भेज रहा हूँ।"

यह पत्र और निब उसके लिए नया अनुभव था। शामको मुझसे मिला और लिपट गया। माफ़ी भी माँगी। बादमें उसने मुझे कभी वैसा पर्चा नहीं लिखा और धीरे-धीरे उसने यह आदत ही छोड़ दी। एक दिन वह मुझसे बोला—"तुम्हारे पर्चेने गालियोंका मजा ही किरकिरा कर दिया यार!"

इस अनुभवके बाद मैंने नियम बना लिया कि गरम बोल हो, गरम व्यवहार, या हो गरम खत, उत्तरमें अपनी ओरसे गरमी गलत!

जीवनमें मैं अपने इस निर्णयपर कभी नहीं पछताया और सच तो यह है कि मुझे जिन निर्णयोंसे जीवनमें सबसे अधिक सफलताएँ मिलीं, उनमें एक यह भी है।

मुझे जीवनमें अक्सर गरम खत मिले हैं और मैंने उनका ठण्डा जवाब दिया है। जवाबकी ठण्डक गरम पत्र भेजनेवालेकी गरमीको पी जाती है और वह सोचता है कि सचमुच बड़ी बेवकूफ़ी होगई।

गान्धीजी ठण्डे खत लिखनेकी कलाके आचार्य थे। १९३१ में वे

लन्दनकी गोलमेज कान्फ्रेंसमें शरीक हुए। उस दिन अल्पसंख्यक समितिकी बैठकमें प्रधान मन्त्री रैम्जे मैकडोनल्डने जो भाषण दिया, वह धमकियोंसे भरा हुआ था। गान्धीजी उसे सुनकर भिन्ना उठे, पर चुप रहे और स्थानपर लौटनेके बाद, जब वे पूरी तरह शान्त हो लिये, तो उन्होंने एक पत्र लिखकर अपना विरोध प्रकट किया। बात यह है कि जवाब वाणीका हो या कलमका, वह जितना ठण्डा होगा, उतना ही प्रभावशाली होगा।

उन्हीं दिनों सम्राट् पंचम जार्जने गोलमेज कान्फ्रेंसके प्रतिनिधियोंको अपने महलमें एक दावत दी और गान्धीजीको भी उसमें आनेका पत्र लिखा।

गान्धीजीने कई दिनतक इस पत्रका उत्तर नहीं दिया। बात यह है कि गान्धीजी इस तरहकी शानदार दावतोंमें कभी शरीक नहीं होते थे, इसलिए सत्य और न्यायका पक्ष था कि वे साफ़-साफ इन्कार करदें, पर सोचते-सोचते एक नैतिक पक्ष उनके मनमें आया कि मैं इंग्लैंडका मेहमान हूँ और मेहमानको कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि उसके व्यवहारसे मेजबानके प्रति अवज्ञा प्रकट हो और बस उन्होंने अपने नियमको ढीला करके निमन्त्रण पत्रके उत्तरमें स्वीकृति-पत्र लिख दिया।

यदि गान्धीजी पत्रके आते ही जल्दीसे उसका जवाब दे देते तो?

मार्च १९४४ की बात है। गान्धीजी आगा खाँ महलमें नजरबन्द थे और 'बा'की मृत्यु हो चुकी थी।

'बा'की मृत्युपर भारत सरकारके गृहमन्त्रीने जो वक्तव्य केन्द्रीय असेम्बलीमें दिया, उसमें गान्धीजी सहमत नहीं थे, वे उसका प्रतिवाद करना आवश्यक समझते थे।

उन्होंने प्यारेलाल भाईसे पत्र लिखनेको कहा, पर उनका लिखा पत्र गान्धीजीको पसन्द नहीं आया। गान्धीजीने स्वयं पत्र लिखा। फिर उसमें

सुधार किया। तब साथियोंने उसे देखा। बहुतसे और बहुत बार सुधारके बाद गान्धीजीने उसे फिर लिखाया।

इस तरह ५ बार सुधारके बाद डा० गिल्डरने उसे देखा और उसमें छठी बार सुधार किया और उसके अनुसार सुशीला नायरने फिरसे एक पत्र तैयार किया। तबतक गान्धीजी भी अपने पत्रमें काफी काट-छाँट कर चुके थे। इस तरह दो पत्र हो गये। इन दोनोंको मिलाकर एक तीसरा पत्र तैयार हुआ। गान्धीजीको यह अच्छा लगा, पर स्नान-गृहमें नहाते-नहाते उसे उन्होंने फिर सुना और कुछ सुधार किये। भोजन करते समय गान्धीजीने उस पत्रमें कुछ और सुधार कराये और तब वह टाइप होकर डाकमें गया।

अप्रैल १९४४में वायसराय वेवलका एक पत्र उसी नजरबन्दीमें गान्धीजीको मिला। पत्र पढ़कर गान्धीजीका रोम-रोम गरम हो गया और उसी गरमीमें उन्होंने पत्रका उत्तर लिखा।

साथियोंको यह पत्र 'तीखा' लगा, पर गान्धीजी पूरी गरमीमें थे। बोले—"वह तीखा है ही नहीं!"

कहा गया कि—"इस तरहका पत्र न लिखें, तो क्या हर्ज है?"

गान्धीजी गरमीसे भरे थे। बोले—"लिखना तो चाहिए। न लिखूं तो मैं नीचे उतरता हूं और लिखूं तो ऐसाही लिख सकता हूं।"

रातमें डा० गिल्डरने कहा—"यह पत्र लिखनेका हेतु क्या है? क्या आगेके लिए पत्र-व्यवहार बन्द करनेका?"

प्रश्नमें बरसात थी, पर गान्धीजीकी गरमी उससे न बुझी। बोले—"जैसा उसका पत्र है, वैसा ही जवाब होना चाहिए, ताकि वह समझ ले कि मैं उसका अर्थ समझ गया हूं।"

प्यारेलाल भाईने एक नया पत्र लिखा। गान्धीजीने उसे पढ़ा और तब नया पत्र लिखाया।

इसमें साथियोंने अपने सुधार सुझाये और तब गान्धीजीने एक और पत्र लिखाया—लिखाते-लिखाते भी इसमें सुधार वे कराते रहे।

रातमें डाक्टर गिल्डरको यह पत्र दिया गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने सुझाव दिये। गान्धीजीने लिखा था कि हाकिम और रैयत एक होकर काम नहीं कर सकते और गिल्डर इससे भी सहमत नहीं थे। गान्धीजी अपनी बातपर जमे रहे।

शामको घूमते समय उनका मत बदला कि साँप मालिक और नौकर पर एक साथ हमला करे, तो दोनों उसे मारनेमें सहयोगी हो जायेंगे! तब वे बोले—"अगर मेरा यह पत्र ज्योंका त्यों चला जाता, तो मेरी हँसी होती।"

और तब दूसरे दिन उन्होंने एक नया पत्र लिखवाया और वही वेवल-को भेजा गया। जब गान्धीजीको एक खतके लिए इतनी सावधानी और श्रमकी आवश्यकता थी, तो मुझे-आपको कितनी जरूरत है?

आदमी गरम खत कब लिखता है? जब वह किसी बातमें गुस्सेमें आ जाय। गुस्सा दिमागपर सवार है, तो कलममें ठण्डक कहाँसे आयगी?

क्या आप चाहते हैं कि किसीको गरम खत न लिखें? हाँ, तो उस समय कोई खत न लिखिये, जब आपको गुस्सा चढ़ा है और लिखनेका आवेग इतना प्रबल हो कि बिना लिखे रहा ही न जाय, तो अवश्य लिखिये, पर उसे लिखकर रख लीजिये, तुरन्त डाकमें न डालिये। दूसरे-तीसरे दिन जब आप उसे शान्तिमें पढ़ेंगे, तो आपको वह मक्खियों भरा दूध दिखाई देगा और आप उसे फाड़कर दूसरा खत लिखेंगे, जिसमें ताना-तनाजा एक नहीं, सिर्फ कामकी बात होगी।

क्या आपके पास किसीका गरम खत आया है और आप गुस्सेसे भर

उठे हैं? हाँ, तो आप भी ठहरिये और अभी खत न लिखिये। ठहरना सम्भव न हो, तो फिर लिख लीजिये खत और फोड़ लीजिये उसमें दिलके छाले, पर उसे डाकमें न डालिये।

सौ बातोंकी एक बात यह है कि गुस्सा आदमीको सोचने लायक नहीं छोड़ता। अब आप अगर गुस्सेमें खत लिखते हैं, तो वह इस लायक कहाँ है कि उसपर कोई विचार करे? इसी तरह जब आप किसीका गरम खत पढ़कर गरमा गये और तभी लिख बैठे उसका जवाब तो वह इस लायक कहाँ होगा कि उसपर कोई विचार करे?

हमेशा ठण्डा खत लिखिये, गरम खतका ठण्डा जवाब लिखिये और साफ बात यह है कि ठण्डे होकर खत लिखिये।

जब उन्होंने तालियाँ बजा दीं !

बसन्तोत्सवके मन्त्रीजी आये थे, कह गये हैं कि इस बारके प्रमुख वक्ताओंमें उन्होंने मेरा भी नाम सर्व सम्मतिसे रक्खा है। शहर भरमें लगानेके लिए उन्होंने जो दो हजार पोस्टर छपाये हैं, उनमें भी मेरा नाम छापा गया है। अपनी फाइलमें लगा वह पोस्टर उन्होंने मुझे दिखाया भी था। इच्छा तो हुई थी कि यह पोस्टर उनसे माँग लूँ, पर यह मुझे जरा हल्कापन लगा। फिर यह भी सोचा कि काहेके लिए अपनेको उनकी निगाहोंमें गिराऊँ; आखिर ये दो हजार पोस्टर लगेंगे तो शहरकी दीवारोंपर ही—कहींसे भी चुपचाप एक उतार लूँगा। फिर यही क्या जरूरी है कि मैं खुद उतारता फिरूँ गलियोंमें पोस्टर। किसी लड़केको दो पैसे दिये और पोस्टर घर आ गया।

तो खैर, मैंने यह अच्छा ही किया कि पोस्टर उनसे नहीं माँगा और मनकी बात मनमें रख ली। फिर भी मन्त्रीजीकी आँख बचाकर मैंने वह पोस्टर पढ़ जरूर लिया था। वक्ताओंमें ७ नाम थे और उनमें मेरा नाम तीसरे नम्बरपर था। प्रिंसिपल त्रिवेदी और बाबू राजकुमार एम. एल. ए. का नाम ही मेरे नामसे ऊपर था। इसका मतलब साफ है कि मन्त्रीजी और नगरके दूसरे लोग मेरी योग्यतासे पूरी तरह परिचित हैं।

फिर प्रिंसिपल त्रिवेदी और राजकुमार एम. एल. ए का नाम भी उन्होंने मेरे नामसे ऊपर सम्भवतः उनके पदोंके कारण ही छापा होगा; वरना यह भी सम्भव है कि मेरा ही नाम सबसे ऊपर रहता। वैसे तीसरा नम्बर भी क्या बुरा है। राह चलते आदमीकी निगाह जब पोस्टरपर पड़ती है, तो ऊपरके तीन नाम ही आँखोंमें आते हैं।

खैर, यह तो निश्चित है कि इस पोस्टरको सारा शहर पढ़ेगा और इस तरह इस पोस्टरसे मेरा नाम सारे शहरमे एक बार तो गूँज ही उठेगा।

यह भी एक बात ही है कि मेरा नाम बाबू राजकुमार एम. एल. ए. के बाद छपा है। कहते हैं कभी-कभी क़िस्मत इतनी दूरसे इशारा करती है कि उसे समझना हरेकके बसका नही होता। कौन जाने यह भी मेरी किस्मतका एक इशारा ही न हो!

राजकुमार एम. एल. ए. के बाद मेरा नाम छपा है, तो क्या यह सम्भव नहीं कि उनके बाद मुझे ही एम. एल. ए. होना हो? वे दो बार एम एल. ए. रह चुके है, अब काफी बूढे हो गये है और बिना चाहे वसन्तोत्सव-में भाषण देनेके लिए मेरा रक्खा जाना इस बातका सबूत है कि लोग मुझे चाहते है, पसन्द करते हैं।

फिर असेम्बलीकी मेम्बरी कोई राजकुमारके बापका बैंक-बैलेंस नही कि वे लायक हों या निखट्टू वह मिलेगा उन्हे ही। अजीब बात है कि आदमी मौतके रथ तक भी पदोंकी अर्थीपर बैठा-बैठा ही जाना चाहे। हाँ, चाहा करें आदमी स्वर्गको मुट्ठीमें ले लेना, पर चाहनेसे होता क्या है। यह जनतन्त्रका युग है। अब पद-प्रतिष्ठा खानदानोकी बपौती नही हो सकती। जी, वे दिन हवा हुए जब खलील खाँ फाख्ता उड़ाया करते थे। अब कुर-सियो पर आदमी आसमानसे नही उतरते, अब तो जनता जिसे चाहेगी धरतीसे उठाकर उनपर बैठा देगी।

और फिर वही भाग्यके इशारेकी बात, बाबू राजकुमारके बाद ही मेरा नम्बर है। उनके भाषणमे होता ही क्या है? वही ढाकके तीन पात; न जोशका उफान, न भावोंकी कोई कड़ी, न सरसता ही। उनके बोदे व्याख्यानके बाद मैं ऐसा भव्य भाषण दूंगा कि वे और सभा, दोनों ही गजकर्ण होकर सुनते रह जायेंगे!

सचाई यह है कि यह निमन्त्रण वसन्तोत्सवका नही, मेरे भाग्योत्सवका ही है।

फिर सभामे कोई आदमी सिर्फ भाषणसे ही नही जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है, तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है—बस चली की फिट और फिर देखिये तालियोंकी वो गड़गड़ाहटें, वो गड़गड़ाहटें कि बेचारे आसमानके कान काँप उठे।

और चाल भी क्या कोई शतरंज की चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मफ्तूँ सोचा करे सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट दाल, जी हाँ चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर शेर घायल !

लो सच बता दूँ, यह चाल कुछ मेरी अक्लका कारण नही है, यह सतीश-की सूझका तोहफा है। वह कविता-वविता तो यों ही कुछ लिखता था, पर हाँ, कवि-सम्मेलनमे जमती उसीकी थी। अरे भाई, पब्लिक यानी जनताका दिमाग भेड़ियाधसान है—जिधर चले कि चले और न चले तो बस ठप्प। तो सतीश अपने साथ ८-१० चेले-चाँटे ले जाता और ज्यो ही वह कविता आरम्भ करता कि वे पुनः-पुनः साधु-साधु और वाह-अति सुन्दरके साथ तालियोंसे वातावरणको गुंजा देते और ऐसा समा बँधता. ऐसा समा बँधता कि क्या बताऊँ आपको कि दूसरोके मोती रुले फिरते और उसके गिट्टे चमक उठते।

तभी तो कह रहा हूँ मै कि सभामे कोई आदमी सिर्फ भाषणसे ही नही जमता, जमनेकी भी एक कला है और कला क्या है एक तरकीब है और तरकीब भी क्या है एक चाल है बस चली कि फिट और फिर देखिये तालियोंकी वो गड़गड़ाहटे, वो गड़गड़ाहटे कि बेचारे आसमानके कान भी काँप उठे और चाल भी क्या कोई शतरंजकी चाल है कि घुटनेपर गाल रक्खे नवाब मफ्तूँ सोचा करे सौ और हाथ न आये एक। चट रोटी पट

दाल, जी हाँ चट रोटी पट दाल—इधर तीर छूटा उधर शेर घायल।

तो भाषणकी सफलता निश्चित है और यह भी कि राजकुमार बाबूको साँप सूँघ जायगा, यानी मेरा वसन्त उनका बस अन्त ही है।

वसन्तोत्सव समीप आ रहा है और मैं भी पूरे जोरोसे अपने भाषणकी तैयारी कर रहा हूँ। भाषण दे देना आसान है, पर मैं ऐसा भाषण देना चाहता हूँ कि प्रतिष्ठित पत्रोंमे उसके मुख्य अश तो छपे ही, पर उसपर ज्यादा नही, तो २-४ मे सम्पादकीय टिप्पणी भी जड़ी जाये।

यह कोई कठिन काम नही है। मैंने अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुषो द्वारा पढे गये कोई २०-२५ भाषण इकट्ठे कर लिये है और उनके चुने हुए अश उनमेसे काट लिये है। यह काफी कीमती मसाला है और हमारे सम्पादक लोग इसकी उपेक्षा नही कर सकते।

और यदि इन भाषणोंको वे सम्पादक पहले पढ चुके हों और मेरे भाषणको चोरीका गुलदस्ता लिख दे, तो बस डूब गई नाव, यह बहुत बडा खतरा है, पर खतरेको दूरसे ताड लेना और बचाव बाँध रखना ही खिलाडीपन है।

मैं भी अनाडी नही हूँ। वैसे तो मैं कह सकता हूँ कि ये भाषण जिन लोगोंने पढे है, कुछ उनके भी लिखे नही है—भाषणोमे तो विचारोंका आदान-प्रदान देन-लेन चलता ही है, पर मैं कच्ची गोलियाँ भला खेलूँ ही क्यो?

मैंने सब विचारोकी भाषा बदल दी है—भाव अनूठे चाहिएँ, भाषा कोई होय। अब भाषा मेरी है और भाव भगवान्के। फिर भाषा और भाव दोनोंसे बढ़कर है व्याख्यानकी भाव-शृखला। उसमे मैंने रातदिन मेहनत की है।

इस तरह व्याख्यानका मसाला तो तैयार है, पर प्रश्न यह है कि मैं उसे आरम्भ कहाँसे करूँ? मैंने देखा कि हमारे प्रदेशके प्रमुख वक्ता भाई

यशपाल सिह अपना भाषण किसी शेरसे शुरू करते है और शेरके पढते ही हजारो लोगोके दिल उनकी मुट्ठीमे आ जाते है।

मै चाहता हूँ कि कोई ऐसा शेर हो, जो लोगोको तडफा दे, बेचैन कर दे, मुग्ध कर दे, लोट-पोट करदे। इस कामके लिए मैंने कोई ५०-६० शेर इकट्ठे किये है, पर तै नही कर पा रहा हूँ कि किसे जमा दूँ।

बहुत सोच-विचारके बाद यह शेर मेरे दिलमे समाया है कि यह ऐसा जमेगा, ऐसा जमेगा कि न पूछिये—शेर क्या है, दिलोंका सीमेन्ट है—

असर कहते है जिसको,
वह खुदाकी देन है लेकिन—
इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज कर लें दास्ताँ दिलकी।
अदब और दबाव, दोनोका वाह क्या मिलान है।
इजाजत हो तो हम भी,
अर्ज कर लें दास्ताँ दिलकी।

शेर तो वाकई जोरदार है, पर एक बात है कि कुछ लोग शेरसे भाषणको शुरू करना जरा हल्कापन मानते है। तो फिर क्या करूँ? हाँ, ठीक है, स्वामी रामानन्दजीके तरीक़ेसे काम लूँ कि व्याख्यानको किसी कहानीसे शुरू करूँ।

दृष्टात-सागरमे अच्छी कहानियाँ है और दृष्टात-समुच्चयमें भी, पर वे जरा पुराने-से ढगकी है और कुछ गम्भीर भी है। मै कोई ऐसी कहानी चाहता हूँ कि वह ऐसी चटपटी हो कि सुनते ही जनता उसमें उलझ जाय। तो फिर ह्यूएनत्सागकी कहानी सबसे अच्छी रहेगी।

दक्षिण भारतसे एक आदमी उत्तर भारतमें आया। वह अपने पेटपर तांबेके पत्तर बाँधे रहता था और सिरपर जलती हुई मशाल। उससे

लोगोंने पूछा कि तुम ऐसा क्यों करते हो? उसने उत्तर दिया कि मेरे पेटमे इतनी ज्यादा अक्ल है कि मै पेटपर ताबेंके पत्थर न बाँधूं, तो मेरा पेट ही फट जाये और सिरपर मशाल इसलिए बाँधता हूँ कि मेरे चारो तरफ जो लोग हैं, वे अज्ञानके अन्धेरेमें भटक रहे हैं। मुझे उनपर दया आती है और मै उन्हें यह रोशनी दिखाता हूँ।

ठीक है बस इससे ही आरम्भ करूँगा अपना व्याख्यान। बात यह है कि इससे दो लाभ एक साथ होंगे। बाबू राजकुमारपर तो यह चोट हो जायगी कि कुछ तुममे ही अक्ल नही है, मुझमे भी है और जनताके लिए इसी बातको मोड दूँगा यों कि मुझे उस आदमीकी तरह अक़्लका बदहाजमा नही है, मै तो आपका नम्र सेवक हूँ।

खैर, भाषण मैंने ऐसा बाँध दिया है कि सुनते-सुनते लोग मुग्ध हो जाएँ और अधिक नही, तो २-४ सप्ताह तो नगरमें उसीकी चर्चा रहे, पर यह क्या बात है कि कल वसन्तोत्सव है और आज मेरा हृदय धक-धक कर रहा है। कलके उत्सवकी बात याद आते ही शरीरमे दौडता खून जम-सा जाता है।

किसी सभामे भाषण देनेका यह मेरे लिए पहला दिन है, पर जैसे बातचीत, वैसा भाषण। बातचीत रुक-रुककर की जाती है और भाषण बिना रुके। फिर जब भाषण तैयार है और उसे मैने करीब-क़रीब रट डाला है, तो इसमे चिन्ताकी क्या बात है—धड़ाधड़ बोलना चला जाऊँगा।

हाँ, बात तो ठीक है, बोलता चला जाऊँगा। अजी मैंने यहाँतक निशान लगा लिये है कि कहाँ जोशके साथ बोलना है और कहाँ धीमेसे, कहाँ अपनेको गम्भीर रखना है और कहाँ हँसना। असल बात यह है कि भाषणमें उतार-चढ़ाव बहुत ज़रूरी है।

हाँ, भाषणमे उतार-चढाव बहुत जरूरी है, पर मेरे दिलमे यह उतार-

चढाव क्यों हो रहा है। ऐसी घबराहट तो मुझे पहले कभी नहीं हुई। सभी मानते है कि मै डरपोक नही हूँ।

फिर यह भी खतरा नही है कि भाषण बिगड जाय, क्योकि पहले तो रट मारा है, फिर कई बार बागमें जाकर उसे दोहरा लिया है और आज तो मैंने उसके नोट्स भी ले लिये है। ऐसी तरकीबसे उस पर्चेको मेजपर रख लूँगा कि मुझे एकके बाद एक पैंड़ी दिखाई देती रहे और किसीको इस सर्च लाइटका पता भी न रहे।

मै समझता हूँ कि अब घबराहटकी कोई बात नही है।

हाँ, घबराहटकी क्या बात होती इसमें, पर थोड़ी-थोडी देरमे कलेजा जाने क्यो बाहरको आने लगता है। सोचता हूँ मत्रीजीको एक पत्र भेज दूँ कि तार आगया है, एक सम्बन्धी बीमार है, बाहर जा रहा हूँ, बस झगड़ा टटा खत्म। भाषणका क्या, ये तो आये दिन जल्से-उत्सव खड़े ही रहते है।

हाँ, यही ठीक है। कौन मुसीबतमे जान फाँसे। कही ऐसा न हो कि आये थे चौबेजी छबे बनने, पर रह गये दुबे ही, यानी आये थे बेचारे नमाज़ बखशवाने, रोज़े गले पड़े।

बाहर जानेका फैसला कर लिया था, पर रात भाभोकी माँ मिल गई। बुढिया टनटूमनमे मास्टर है। बोली—अरे. जबतक मै हूँ, तुझे क्या फ़िक्र, जेठे पूतकी अगछी-टोपी दे दूँगी। जाते समय उसे जेबमे डाल लियो, बस फतह ही फतह है। चारों तरफ़ दुश्मन ही दुश्मन हो, तब भी सिक्का तेरा ही बैठेगा। मेरी बात झूठ निकले, तो चोरका हाल सो मेरा हाल।

मन्तर-तन्तर झाड़ा-फूँकी और टनटूमनमे अब लोगोका विश्वास नही है, पर हमारे बडे-बुजुर्ग क्या मूर्ख ही थे, जो इनमे विश्वास करते थे।

आखिर कोई तो बात है ही इनमें। कहते है पण्डित जयन्तीलाल

शिवाबली दिया करते थे, तो गीदड़ी आकर स्वयं बलिको खा जाती थी। गीदड़ी न आये, तो वे लाखका लोभ देनेपर भी अनुष्ठान हाथमें न लेते थे और साफ़ कह देते थे कि तेरा काम सिद्ध नहीं होगा।

आज ही वसन्तोत्सव है। तीसरे दिन मैं हजामत बनाता हूँ और आज उसका दिन नहीं था, फिर भी मैंने हजामत बनाई। बात यह है कि हजामत भी आदमीके व्यक्तित्वको चमकाती है और व्यक्तित्वकी चमक भाषणके जमनेमें मदद देती है।

मैं कभी शेरवानी और पाजामा पहनता हूँ, कभी बुशशर्ट-पतलून और कभी कुरता-धोती। मैंने सबको अलग-अलग पहनकर शीशा देखा और अन्तमें शेरवानी-अचकनको ही पास किया। इस वेशमें एक बड़प्पन है, सजीदगी है, शालीनता है।

हनुमानजीके दर्शन करने गया और उनके चरणका सिन्दूर छातीपर लगाया। इससे काफी बल मिला और घर आकर सवा रुपया ताकमें रख दिया कि आज मेरा भाषण जम गया, तो रातको ही हनुमानजीका प्रसाद बाँटूँगा।

अपने कमरेमें लेटकर मैंने भाषण दोहराया, ठीक था, घबराहट भी आज कल जैसी नहीं थी और सफलता अब मेरे सामने थी। समयपर कपड़े पहन उत्सवमें चला, तो घरसे बाहर पैर रखते ही कहीं दूर शंख बजा।

मेरा मन विश्वाससे भर गया। यह शुभ शकुन था—मुझे लगा कि यह राजकुमार बाबूपर मेरी विजयका शंखनाद है। ताँगेमें बैठते-बैठते मैंने मनमें कहा—हे सत्यनारायण स्वामी, आपकी कृपासे आज मुझे सफलता मिल जाय, तो मैं धूमधामसे आपकी कथा कहलवाऊँगा।

मैं ठीक समय जलसेमें पहुँच गया। मन्त्रीजीने मेरा स्वागत किया। सच तो यह है कि सब मेरी ही ओर देख रहे थे और ठीक भी है कि उत्सवका

प्राण तो वक्ता ही होते हैं। फिर वक्ताओंमें दो तो पुराने-घिसे हुए थे और च्चार सीखतड—आजका मुख्य वक्ता मैं ही था।

मैं कुरसीपर बैठ गया, पर मुझे फिर घबराहट उठी और मनमें आया कि उठ चलूँ, पर मैंने तभी जेबमें हाथ डालकर माधोकी माँके उस अक्षय कवचको छू लिया। इससे मुझे कुछ ताकत मिली और तभी मैंने मन ही मन कहा—हे हनुमानजी महाराज, मुझे सफलता दो। मैं आज ही आपको सवाकी जगह अढाई रुपयेका प्रसाद चढाऊँगा।

प्रिंसिपल त्रिवेदी सभापति चुने गये, इसलिए बाबू राजकुमार एम० एल० ए० ही पहले वक्ता रहे। वे बोल रहे थे, पर मैं उनका भाषण सुन न रहा था। हाँ जी, भाषण मेरे कानोंमें पड रहा था, पर कलेजेमें उतर न रहा था। मैं शायद अपना भाषण सोच रहा था और शायद कुछ भी न सोच रहा था।

उनका भाषण ढीला रहा, यह मैं जरूर समझ पाया। उसमें एक भी बात नई न थी। सच यह है कि वे उन लोगोंमें हैं, जो मर जाते हैं और फिर भी साँस लेना बन्द नहीं करते।

अब मन्त्रीजी मेरा परिचय दे रहे थे। मैं अपनी कुरसीसे उठा, तो मुझे लगा कि मेरे पैर सो गये हैं। मैंने अपनेको सम्भाला और भाषणके नोट्सकी पर्ची बायें हाथमें ले ली। मेजके पास पहुँचते ही सभापतिजीने कहा—"आइये, कितनी देर बोलिएगा ?" मैंने कहा—आधे घण्टेसे कुछ ज्यादा ही समझिये !" पर मुझे लगा कि मेरी आवाज कुछ बैठी हुई है। पिण्डलियाँ तो काँप ही रही थीं।

मैंने सभाकी ओर देखा—कोई दो हजार आँखें मुझे ही देख रही थीं। सहसा मेरी आँखें बाबू राजकुमारकी आँखोंसे टकराईं—बस एक बड़ा घण्टा-सा मेरे कलेजेमें घम-सा लगा और यह भी कि तख्त नीचेको जा रहा है।

श्रीमान् सभापतिजी और भाइयो, मैंने कहा और तब मशालवालेकी कहानी आरम्भ की, पर जाने कैसे मेरे मुँहसे निकल पड़ा—मेरे सिरपर जलती मशाल बन्धी है।

बस जल्सेके लोग हँस पड़े और लड़कोंने तालियाँ बजा दीं। मेरा रोम-रोम इस तरह खेल गया कि जैसे मुझपर ये कई सौ हण्टर एक साथ पड़े हों! मेरी आँखें बन्द हो गई या उनमें अन्धेरा छा गया और जब वे खुलीं मैं पिछले कमरेमें लेटा था।

सब कुछ मुझे याद हो आया। जल्सा चल रहा था, मैं चुपकेसे अपने घर आगया क्योंकि अब वहाँ बैठना तारकूल लगाकर शीशेमें मुँह देखना था। जीना अब मुझे बोझ था। बोझ उठाया जा सकता है, पर जिया तो अब नहीं जा सकता था। हाँ मुझे मर जाना है; और क्या मरना ही बाक़ी है। इस सारी घटनावलीके बाद श्यामनन्द बाबूने बताया कि मेरा सिर फटा जा रहा था। मुझे याद आई सारीडनकी गोली और, और शेरीडन—इगलैण्डका राजनीतिज्ञ। वह जब पहली बार पार्लीमेण्टमें बोला, तो घबरा गया। पत्रकारोंने उससे कहा—"कोई और काम कीजिये आप", पर जब वही वारेन हेस्टिंसके विरुद्ध पार्लमिण्टमें बोला, तो प्रसिद्ध वक्ता फाक्सने कहा—"ऐसा भाषण कामन्स सभामें आजतक कभी नहीं हुआ।"

मैंने सोचा-मैं मर जाऊँ? मेरे साहसने उत्तर दिया कि ना, मैं मरूँगा नहीं और अपने नये-नये प्रयत्नोंसे नई सफलता पाऊँगा और एक दिन शेरीडनकी तरह यशस्वी हूँगा।



उस बेवक़ूफ़ने जब मुझे दाद दी !

मेरी जन्मभूमिके एक सज्जनने उस दिन मुझसे अपनी बेटीके विवाह-का निमन्त्रण लिखवाया। वर्षभरमें दस-बीस-पचास निमन्त्रण लिखता ही हूँ, उनका भी लिख दिया।

इस बेटीके श्वसुर समयकी बात साहित्यिक रुचिके थे और पत्रोंमें मेरे लेख पढ़ चुके थे। वे जब बेटेकी बारात लेकर आये, तो स्नेहपूर्वक मेरे घर पधारे।

मैं उनके अनुरोधपर उनके पुत्रको आशीर्वाद देने गया और यों उनके साथ उनके घर जा पहुँचा, जिन्होंने मुझसे निमन्त्रण-पत्र लिखाया था !

जब उन्होंने जाना कि उनके सबधी मेरे घर गये थे, तो मनमें माना कि उन्हें मेरी प्रशसा करनी चाहिए और अपने सम्बन्धीकी ओर देखकर बोले—"लाला जी, हमारे पण्डितजी बड़े विद्वान् हैं, मुन्नीके विवाहकी चिट्ठी हमने इनसे ही लिखवाई थी। ये बहुत अच्छी चिट्ठी लिखते हैं।"

मैंने अनुभव किया कि सम्बन्धीजीको उनकी बात भली नहीं लगी और उनके जाते ही वे बोले—"बेवक़ूफ़ है !"

मैंने कहा—"आपके वे सम्बन्धी है, चाहे जो कहिये, पर मेरी लिखाई को तो दाद वे दे ही रहे थे।"

बोले—"बेवक़ूफ़की दादसे भगवान् बचाये !"

बचपनमें पिताजीने एक संस्मरण सुनाया था। वह अनायास स्मृतिमें चमक उठा—एक डिप्टी थे कालेराय। अफसरीके सब दोषोंसे दूर और गुणोंसे भरपूर। उनकी अदालतमें दो भाइयोंका मुकदमा आया, जिसमें चतुर छोटे भाईने, सरल बड़े भाईका सब कुछ दबा लिया था और अपमान भी किया था।

कालेरायने दूधका दूध और पानीका पानी कर दिया, तो फैसला सुन-कर बड़ा भाई भरी अदालतमें बोला—"अरे डिप्टी साहब, तेरा बाप भी सुसरा गधा ही था, जो तेरा नाम कालेराय रख दिया—तू तो पूरा भोले-राय है।"

पाँच-सात दिन बाद भाई ब्रह्मानन्द जी आ गये—शास्त्रीय संगीतके वर्चस्वी साधक। आचार्य जगदीशचन्द्रने कुछ मित्रोंसे चर्चा कर दी और दूसरे दिन एक प्रतिष्ठित बन्धुके यहाँ रातमें एक संगीत-गोष्ठीका आयो-जन हो गया।

समयपर हम लोग वहाँ पहुँचे, तो देखा कि नगरके कुछ शिक्षित बन्धु-ओंके साथ दुलारा सुनार भी बैठा है। दुलारेका गला अच्छा है और अपने यार-दोस्तोंमें गायक माना जाता है।

संगीतका उसे ज्ञान नहीं, ताल-स्वरका अता पता वह नहीं जानता, कुछ रसीली गजलें और गलेका लोच ही उसका आरकेस्ट्रा है, जिससे वह मित्रोंका मनोरंजन कर देता है।

सितारपर कलाकार ब्रह्मानन्दकी उंगलियाँ इठलाईं कि बागेश्वरीकी धुन झंकारपर थिरक उठी। बरसों बीत गये, पर लगता है आज भी वह धुन कानोंमें समाई है। ब्रह्मानन्दजीकी मुद्रा दर्शनीय थी; लगता था कि उनकी आत्मा सितारके तारोंमें समाधिस्थ हो गई है।

तभी कानोंमें एक सुई चुभ गई—"लो टुन-टुन तो सुन ली पण्डितजी, अब इनसे कुछ गाना-वाना सुनवाओ।" यह उस मनहूसकी आवाज़ थी, जिसके घरपर हम बैठे थे। मैंने कड़वी आँखोंसे उन्हें देखा, तो वे दबे। तभी फूटे कलाकारके बोल और बस जड़ तारोंकी धुनसे चैतन्य कण्ठका स्वर मिल, यों इठला उठा कि प्रकृति और पुरुषका युगल विहार कर रहा हो!

राग उठा, उभरा, इठलाया और अन्तरिक्षमें बिखरकर कलाकारके मानसमें समा गया। ब्रह्मानन्दके माथेपर सरदीकी उस ऋतुमें भी श्रम-मोती झलक आये, सितार उन्होंने रख दिया।

एक-दो बीमार गलोंसे मरी-सी वाह-वाह निकली और शेष सब शान्त रहे, शान्त क्या, वे भी थक गये थे—अपने अज्ञानमें, अज्ञानकी प्रतिक्रियामें !

तभी एक आवाज आई—"अच्छा साहब, अब दुलारेकी भी एक चीज हो जाय !"

"जरूर जरूर" यह मिला भरा पूरा समर्थन !

दुलारा सकोचसे दोहरा हो गया—"अजी, भला इसके सामने काली चिड़ियाकी क्या बिसात, पण्डितजीसे ही एक और चीज सुनिये !"

वह लाख संगीतज्ञ नहीं था, पर कनरसिया तो था ही; चीजको समझता था, पहचानता था।

तकाजेने जोर पकड़ा, दुलारेके सामने जगह हो गई और वह खँखार ही रहा था कि किसी स्वयम्भू निर्देशककी वाणी सुन पड़ी—"हाँ दुलारे, ऐसी हो कि कलेजा चीरती चली जाये !"

दुलारेके बोल खिले—

उसने कहा तू कौन है, मैंने कहा शैदा तेरा !
उसने कहा चाहता है क्या मैंने कहा सौदा तेरा !!

वाह-वाहसे कमरा गूँज गया और इस तरहके रिमार्क भी—क्या कहने ! शैदासे सौदा क्या मिलाया है !

ब्रह्मानन्दजीने एक राग और गाया, दुलारेकी एक गजल और हुई और गोष्ठी खत्म।

चलते-चलते एक सज्जन मेरे कानमें बोले—"तुम्हारे सितारजीको हमारे दुलारेने पहले ही दावमें उखाड़ दिया पण्डितजी !"

मैंने आँख फाड़कर उधर देखा—यह बैल बी० ए०, एल-एल०-बी० था!

हम इस तरह चुपचाप घर पहुँचे और सो गये कि तीनों ही कहीं पिटकर आये हों, पर प्रातः उठे ही थे कि दुलारे आ पहुँचा। अंगोछेमें लपेटे फल उसने सामने रक्खे और ब्रह्मानन्दजीके पैर छूकर बोला—"इन लोगोंके भागमे हमारे कानोंमे भी कल आपके बोल पड़ गये। पण्डितजी, मैं रात भर नही सोया, आपकी आवाज मेरे भीतर गूँजती रही!"

मैं ने उसे जरा गहराईमे उतारा—"लेकिन वहाँ रात गाना तो तुम्हारा ही जमा दुलारे भाई!"

दुलारेने आँखें बन्दकर दोनो हाथोंसे अपने कान पकड़े, जीभ बाहर निकाल दाँतोंमे दबाई और तब कहा—"राम राम, कहाँ गलीकी नाली, कहाँ मन्दिरका कलश; आप भी क्या बात कहते है!"

विद्वान् मूर्खोंके बाद, यह एक मूर्ख विद्वान्का सम्पर्क था।

दुलारे चला गया, तो मुझे लगा कि गन्दे कमरेमे झाड़ू देनेके बाद अभी-अभी मैं मुँह-हाथ धोकर उठा हूँ!

× × ×

तबकी बात है, जब दिल्लीमें लाल किलेके सामने लाजपतराय मार्कट नही था और वहाँ आम जल्से हुआ करते थे।

उस दिन रातमें उधरसे निकला, तो खुले आकाशके नीचे मशायरा हो रहा था। जरीका चोगा पहने कोई नवाब साहब सदर थे। हजारों आदमी बैठे थे और हजारो खड़े; जैसे जल्सेकी जी-जागती चारदीवारी हो यह!

मैं भी खड़ा हो गया और खड़ा होते ही मुझतक जो कुछ आया, वह किसी शायरकी तरन्नुमके लहरेसे तर आवाज़ न थी, केवड़ेके इत्रकी मदमस्त खुशबू से भरा हवाका हल्का झोका था।

मेरे ठीक सामने एक नौजवान, चिनी हुई दुपल्ली टोपी और चिकनके कुर्तेमें उनके कपड़े इत्रमें बसे थे या वे स्वयं, मैं नहीं कह सकता, पर उनसे वहाँका वातावरण महक रहा था, इसमें सन्देह नहीं।

तभी उन्होंने एक शेरपर बढ़कर दाद दी—"वाह, क्या शेर है, वल्लाह, गालिब मरकर दुबारा जिंदा हो गया है!"

चौंककर मैंने उनकी तरफ देखा और तब—"इस शेरकी बारीकी क्या है भाई जान ?"

बोले—"अरबी-फारसी अलफाज (शब्दों) से शेर इस कदर सकील (गरिष्ठ) हो गया है कि मानी गुम है!"

"तो फिर आपने दाद किस बातकी दी ?" मैंने पूछा तो तुनककर बोले—"अजब दहकानी (गवाँरू) सवाल है आपका; अरे मियाँ दाद देनेसे मशायरेका समा बँधता है!"

तबतक शायर साहब अपना दूसरा शेर पूरा कर रहे थे। कुछ सुना, कुछ बे सुना और पूरा-का-पूरा बे समझा, पर मैंने उभरकर लम्बे हाथों दाद दी।

वे मेरी तरफ विजय भरी आँखोंसे देखकर बोले—"फ़रमाइये जनाब, दादसे समा बँधता है या नहीं ?"

मैंने कहा—"बेशक!" और उन्होंने फौरन मेरी तरफ़ पूरी तरह मुड़कर बड़े तपाकसे हाथ मिलाया और मुझे अपनी बराबरीमें ले लिया।

मैंने सोचा—मशायरेका समा बँधे न बँधे, बातचीतका समा तो बँध ही गया!

× × ×

लोकजीवनमें एक कथा प्रचलित है कि वनकी यात्रामें एक ऋषिको एक अमृतफल मिला। इसे कोई वन्ध्या भी खा ले तो पुत्रवती हो। ऋषिने कृपालु हो, पासपड़ौसकी एक वन्ध्या जुलाहीको वह फल दे दिया।

हाथमें फल लेकर जुलाही बोली—"मेरे घरमें इस फलसे बेटा हो गया, तो तुम्हें गाढेकी एक चादर दूँगी ऋषिजी!"

× × ×

उस दिन हम लोग एक कालेजके कवि-सम्मेलनमें गये। कवि-सम्मेलनके बाद चाय-पानी हुआ। श्री रतनलाल 'चातक' ने सभापतित्व किया था। कालेजके प्रिंसिपल उनसे बोले—"चातक जी, आप कविताको पढ़ते खूब हैं।"

चातकजी चूकनेवाले कहाँ? तड़ाकसे बोले—"जी हाँ, कवितामें तो कुछ होता नहीं, इसलिए गा-बजाकर ही आपको रिझा लेता हूँ!"

अट्टहासोंसे कमरा ऐसा गूँजा कि प्रिंसिपल साहब भक हो गये!

× × ×

हर बातका एक मास्टर पीस होता है; बस अब इस शृंखलाका मास्टर पीस सुन लीजिये।

बंगलौरके कांग्रेस-महासमिति-अधिवेशनमें प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरूको चारों खाने चित कर, पण्डित द्वारकाप्रसाद दिल्लीके तख्तका सपना देख रहे थे कि भाग्यका तख्ता उलट गया और वे मध्यप्रदेशकी अपनी मिनिस्टरी भी खो बैठे।

अतीतमें डा० खरे भी मध्यप्रदेशका मुख्यमन्त्रीपद, कुछ इसी तरह गलत चाहके चक्करमें खो चुके थे, इसलिए डाक्टरने मिश्रको तारसे दाद दी, जो कुछ इस प्रकार थी—मुझे प्रसन्नता है कि तुम मेरे चरण-चिह्नों-पर चल रहे हो!

× × ×

व्यक्तिके असाधारण गुणोंको छोड़कर उसके साधारण गुणकी कभी दाद मत दीजिए।

उस बेवकूफ़ने जब मुझे दाद दी !

साधारण बातपर असाधारण दाद मत दीजिये,
असाधारण बातपर साधारण दाद मत दीजिये,
अपनेको स्वयं कभी दाद मत दीजिये,
सही यह भी कि हमेशा नपी-तुली दाद दीजिये,
सही स्थान पर और सही रूपमें दाद दीजिये;

और याद रखिये कि आपकी दाद एक तराज़ू है, जिसपर वही नहीं तुलता, जिसे आप देते हैं, आप भी तुल जाते हैं!

रहो खाट पर सोय !

"शामका यह सुहावना समय और तुम अपनी इस कोठरीमें पड़े किताब-के पन्ने चाट रहे हो। यह अजब बेवकूफी है। उठो और ज्यादा नहीं, तो कम-से-कम पासके ही पार्कमें घूमते-घामते नजर आओ। आखिर ऐसी भी क्या मनहूसियत है !"

"जी, शामका यह सुहावना समय और तुम खामखा मेरी कोठरीमें घुसे मेरे पुस्तक पढ़नेके आनन्दमें मूसलचन्द बन रहे हो। यह अजब बेवकूफी है। उठो और ज्यादा नहीं तो कमसे कम बाहरकी सड़कपर ही घूमते-फिरते नजर आओ। आखिर ऐसी भी क्या मनहूसियत है।"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक स्वास्थ्य-विज्ञानकी बात और तुम ले उड़े उसे मजाकमें और फिर मजाक भी हल्का कि हमारी ही बात हमपर फिट कर रहे हो। यह अजीब मनमानी है तुम्हारी !"

"अरे भाई, तुम भी कमालके आदमी हो। हमने कही एक जीवन-विज्ञानकी बात और तुम ले उड़े उसे मजाकमें। अच्छा रहने दो अब और आगे नहीं कहता। वरना तुम कहोगे कि यह मेरी ही बात मुझपर फिट कर रहा है।"

"तो शामके समय अपनी कोठरीमें घुसकर खटियापर पड़े, पुस्तक पढ़कर स्वास्थ्य खराब करना भी एक जीवन-विज्ञान है; क्या अजीब मन-मानी है !"

"जी हाँ, शामके समय कोठरीमें घुसकर खटियापर पड़े पुस्तक पढ़ना भी जीवन-विज्ञान है, पर मैं यह स्वीकार करनेमें भी शरमाऊँगा नहीं कि यह

अधूरा जीवन-विज्ञान है और लीजिये तुम्हें नये प्रश्नोंकी मगज़कूलसे बचानेको यह भी बता दूँ कि यह पूरा तब होता जब मैं यहाँ खटियापर पड़े पुस्तक पढ़ता नहीं, खुर्राटोंके साथ सोता तुम्हें मिलता।"

"वाह मेरे शेर, क्या छलाग मारी है तुमने कि शामके समय श्रीमान् जी सोते मिलते, तो जीवन-विज्ञान पूरा हो जाता। अरे मियाँ, यह क्यों नहीं कहते कि खटियापर मरे मिलते, तो जीवन-विज्ञानमें चार चाँद ही लग जाते !"

"इसमें न वाहकी जरूरत है, न आहकी; बात तो सिर्फ इतनी है कि तुम्हें हो गई है अक्लकी बदहज्मी और मैं बात कर रहा हूँ अक्लकी, जिसे तुम पचा नहीं सकते, पर खैर, अब मेरी कोठरीमें आ गये हो, तो तुम्हारी खोपड़ीमें भी यह जीवन-विज्ञान उतरना ही पड़ेगा।"

"कैसे ?"

"कैसे क्या था इसमें ? बस हकीम तुलसीदासकी हाथमेंकी गोली देनी पड़ेगी तुम्हें, और जहाँ वह गोली तुमने जरा पपोली, समो कि तुम्हारे दिमागके किवाड़ इस तरह खुल जायेंगे जैसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे कभी संजयके खुल गये थे।"

"यह सब क्या छौंक लगा रहे हो तुम ?"

"छौंक-बौंक कुछ नहीं, बस गोली तैयार है और अब तुम भी तैयार हो जाओ। डरो मत, यह थ्री नाट थ्री नहीं है कि जागतोंको सुला दे, यह वो गोली है जनाब, कि सोतोंको जगा दे और जागतोंको चला दे।"

"तो फिर जो होगा देखा जायगा, चलाइये अपनी गोली, हम भी छाती खोले तैयार हैं।"

"जी, इस गोलीमें छाती खोलनेकी जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि तुलसीदासकी यह गोली सीधे छातीपर नहीं पहुँचती, कानोंकी राह छातीमें उतरती है।"

"तो यह बात है?"

"जी हाँ, यह बात है, अच्छा तो कान खोल लो, वह गोली आ रही है और गोली क्या है सत तुलसीदासका ज्ञानामृत है कि "तुलसी भरोसे राम-के रहो खाटपर सोय।"

सुन लिया तुमने अजी, सुन लिया तुमने कि सन्त कवि तुलसीदास जी क़िस्मतकी बात है कि अकलके मामलेमें तुमसे इंच दो इंच आगे ही हैं, जीवन-विज्ञानका यह सार कह गये हैं कि भाई, झगड़े-झमेलेमें मत पड़ो और आरामसे खाटपर पड़कर सोओ। अब बताओ कि अपनी कोठरीमें खाटपर पड़ा मैं उनकी बातका आधा पालन तो कर ही रहा हूँ, फिर तुम इस तरह क्यों चिचिया रहे हो कि जैसे मैंने किसीकी जेब काट ली हो और तुम कोई पुलिस इन्सपेक्टर हो!"

"भई, यह तो तुमने गज़बकी गोली खिलाई और इसमें वाकई दिमाग के किवाड़ खुले जा रहे है, पर यह तो बताओ कि सचमुच यह तुलसीदासके दवाख़ानेकी है या भले आदमी, घरमें घोटकर उनका लेबिल लगा दिया है तुमने। आजकल यह मर्ज बुरी तरह बढ़ रहा है, कहीं छूतकी इस झपे-टमें तुम भी तो नहीं आ गये?"

"जी नहीं, यह सौ-टका तुलसीदासकी गोली है और देखते नहीं आप कि ऐसा विशाल अनुभव और है ही किसे, जो एक लाइनमें सारी गीता कह दे?"

"अच्छा जी! तो इस लाइनमें सारी गीता कह दी गई है? भाई, सच बात यह है कि तुम्हारी गोलीसे हमारे दिमागके किवाड़ तो खुल गये हैं पर कमरा अभी खाली ही है।"

"घबराओ मत भाई जान, जब कमरा खुल गया है, तो उसमें ज्ञान-पुरुषका पदार्पण भी होनेवाला ही है, और लो, होनेवाला क्या है, हो ही रहा

है। तुलसीदासके इस हिन्दी वचनपर उर्दूके एक ज्ञानीने अपना प्रवचन किया है। उसे तुम सुनो तो शायद सब कुछ ही पा जाओ। वह कहता है—

"ऐहसान नाखुदाका उठाए मेरी बला !
किश्ती खुदा पे छोड़ दूँ लंगरको तोड़ दूँ !"

कुछ आया तुम्हारी समझमें या अब भी नासमझीका ही दौर-दौरा है? हाँ, तो लो अब तुम्हें अ आ इ ई की तरह ही पढ़ाना पड़ेगा। अरे भाई, लगन-मुहूर्त देखकर, साफ-सुथरी मजबूत नावमें बैठकर, अच्छे मौसममें मल्लाहकी मददसे पार उतर जाना मामूली बात है और यह कोई भी कर सकता है। इस मामूलीसे ऊपर एक गैर मामूली-असाधारण बात यह है कि आदमी मल्लाहका भरोसा न करके अपनी ही ताक़तका भरोसा करे और पार उतर जाये, पर यह ज्ञानी कहता है कि यह भी एक घटिया बात है, असली बात तो यह है कि मल्लाहसे बात न करे, नावके बारेमें सोचना बन्द कर दे और नावको पानीमें उतारकर उसमें सो रहे, बस वही तुलसीदासका वचन **"तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय"**, यानी खाट न सही, नाव सही, तुम खुर्राटोंका मजा लो; डोलती-हिचकोलती नाव अपने आप किनारे लगेगी और लगेगी क्या यों ही, लगायेगा लगानेवाला!"

'और क्यों जी, जो लगानेवाला न लगाये नावको पार और मझधार-में कर दे, डुबक-डुबक, डुम-डुम, तो क्या हो? बस करो बेटा, पाताल लोककी सैर! यह वचन भी खूब रहा और उसका प्रवचन भी खूब रहा, मतलब यह कि चढ़ जा बेटा शूलीपर राम भला करेगा। अरे भाई, राम क्या भला करेगा, तेरे प्राण-पखेरू फुर्र हो जायेंगे। भूख अपने पेटमें और रोटी दूसरेके हाथ; उसने समयपर टुकड़ा दिया, दिया, न दिया, न दिया। भला, यह भी कोई बात हुई!"

"दिया किस तरह नही ? दिया और इस तरह दिया कि लेनेवालेका सिर ऊँचा रहा। हमारे देशके एक-दो नही, अनेक भगत गा गये हैं कि—

'होंगे दयाल तो देंगे बुलायके !
लेने कौन जायेगा, देंगे घर आयके !!

घर आकर देना, कोई कल्पना नही है, मेरे भाई, ख्याली पुलाव भी यह नहीं है। हाँ, यों कह सकते हो कि यह जीवनका एक चमत्कार है। फिर यह चमत्कार कोई सन्तोंकी ही बपौती नही, मेरे जैसे साधारण मनुष्यने भी अपने जीवनमें यह चमत्कार देखे है। युगपुरुष गान्धीजीने कहा था कि जहाँ सत्य होता है, वहाँ चमत्कार भी होते हैं।

अब कहो, तुलसीदासका वचन, जीवन-विज्ञानका अमृत है या नही ? यह अमृत मनुष्यको भिखारी होनेसे रोक देता है और उसे अपनी आँखोंमें हीन नही होने देता। यही नही, उसने एक ऐसी बेफिक्री पैदा कर देता है कि फिक्र, प्यास, तृष्णा, ईर्ष्या, मानसिक हीनता और इसी तरहके दूसरे दोष उसके पास नहीं फटक पाते। उसमें स्वाभिमान इस सीमातक उत्पन्न हो जाता है कि माँगते ही मिल जानेका अखड विश्वास होनेपर भी वह किसीसे नही माँगता और साफ कह देता है—

'यह गवारा न किया,
दिलने कि माँगूं तो मिले।
वरना साकोको,
पिलानेमें कुछ इन्कार न था।'

हाँ, बिना माँगे ही उसकी जरूरत पूरी हो जाती है और जीवनमें कभी ऐसा अवसर भी आता है कि वह प्यासा ही रह जाये, उसे कुछ न मिले,

तब भी उसे दुख नही होता कि मुझे यह मनचाही चीज़ क्यो न मिली। तब भी वह तुलसीदासकी बात मानकर अपनी खाटपर खुर्राटे खैंचता रहता है; क्योंकि उसका विश्वास उसमे कहता है कि तेरी माँगमे—तेरी चाहमे ही कही कुछ भूल है और वह अपने रामसे कह उठता है—

'तेरे करममें कमी कुछ नहीं, करीम है तू,
कुसूर मेरा है, झूठा उम्मीदवार हूँ मैं!'

इसका एक नमूना मैं अपनी आँखों देख चुका हूँ और तबसे 'रहो खाट-पर सोय' की फिलासफीमें मेरा तो अखड विश्वास हो गया है।

मेरे एक मित्र अपने लिए एक मकान चाहते थे। उन्हे सचमुच मकानकी जरूरत थी और इसे सभी मानते थे। बहुत दिनोंके बाद एक मकान उनके नाम अलाट हो गया, पर तभी कुछ लोगोने उसमे अडगा लगा दिया। ये लोग इतने धूर्त थे कि वह सरल मित्र उसमे उलझ गया और मकान न पा सका। मित्रको मकान तो मिला ही नहीं, उनकी बेइज्जती भी हुई, क्योंकि मकानके मामलेको प्रतिष्ठाका प्रश्न बना दिया गया था, पर वे अब भी शान्त थे। उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। उन्होने कहा—मकान मुझे मिलना चाहिए था, यह ठीक है और उसका न मिलना अन्याय है, यह भी ठीक है, पर भगवान् जाने इसीमें मेरा हित हो।

हम सबने कहा—"यह सब तो मजबूरीका सन्तोष है भाई साहब।' पर वे मुसकराते रहे। बादमे एक दिन हमने सुना कि बरसातमे उस मकानकी एक छत गिर गई और कई आदमी उसमे दबकर मर गये। उन्होंने हम सबसे कहा—"कहो, मकान न मिलनेमें ही हित निकला या नही?' सचमुच वह मकान उन्हें मिला होता तो, आज हम समाचार सुननेकी जगह एक मर्मवेधी दृश्य देखते!"

"सचमुच भैया, तुम्हारे तुलसीदासकी यह खाट-फिलासफी तो एक बड़े कामकी बात मालूम होती है।"

"बड़े कामकी ? अजी, इनसे भी बढ़कर बड़े-बड़े कामोंकी है यह बात भाई साहब ! लो एक लोक-कथा सुनाता हूँ तुम्हें, जिसे सन्त तुलसीके तत्त्वज्ञानकी बस व्याख्या ही समझो।"

एक राजा था। एक उसका वजीर था। वजीर हर बातमें कहा करता 'अच्छा ही हुआ।' राजाका बेटा एक दिन अपना पहला शिकार खेलने गया। वहाँ शेरने पंजा मार कर उसका दाहिना अंगूठा उड़ा दिया। जब दरबारमें उसका जिक्र हुआ, तो वज़ीर बोला—'अच्छा ही हुआ।' राजाको गुस्सा आ गया। राजाने कहा—'जा निकल जा, मेरे राजसे।' वजीरने कहा—अच्छा ही हुआ और वह दूर चला गया। कुछ दिन बाद भील लोग उस राजकुमारको उठा ले गये और एक खम्भेसे बाँधकर उसे काली माईकी बली देने लगे। जब भीलोंका गुरु राजकुमारके गलेपर छुरा रखने लगा, तो उसने वो कटा हुआ अगूठा देखा। चिल्लाकर गुरु बोला—"छोड़ दो इसे, यह तो खंडित है।" राजकुमार छूटकर घर आया, तो राजाने कहा—देखो, उस दिन वजीरने ठीक ही कहा था कि अच्छा ही हुआ। राजाने आदर-मानके साथ वजीरको बुलाकर उसे फिरसे ओहदा दिया।

क्या तत्त्व है इस लोक-कथाका ? बस यही कि आदमी नहीं जानता कि किसमें भला है, किसमें बुरा है। और बात यह है कि आदमी सिर्फ़ आजको देखता है, कलको नहीं; पर अनुभव यह है कि आजकी बुराईमें कभी-कभी कलकी भलाई छिपी रहती है। कटे अंगूठेने ही राजकुमारकी जान बचाई या नहीं ?

तो भाई साहब, आजसे तुम भी हमारे गुरु तुलसीदासके चेलोंमें अपना

नाम लिखा लो और यह गुरुमन्त्र कठ कर लो—"**तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय**" ! फिर सुन लो एक बार यह गुरु-मन्त्र "**तुलसी भरोसे रामके रहो खाटपर सोय**" और लो, अब साफ-साफ कहो कि अब तो हमारे गुरु-भाई बननेमे तुम्हे कोई ऐतराज नही है ?"

"क्या बताऊँ मेरे दोस्त, सचाई यह है कि तुम्हारी यह बात तो मेरी भी खोपडीमे बैठती जा रही है, पर सच बताओ, इसे माननेमे कोई खतरा तो नही है ?"

"खतरा ? खतरा इसमे बहुत बडा है ।"

"खतरा इसमे बहुत बडा है ?"

"हॉ इतना बडा कि आदमीको जीतेजी मुर्दा बना दे। लो सुनो, तुम्हे इसका अन्धेरा कोना भी दिखाता हूँ। आदमी अगर राम भरोसे नही आलस्यके सहारे खाटपर पड सोये, तो ऐहदी हो जाता है और ऐहदीपन आदमीकी पराजय है, कोई विजय नही !

राम भरोसे खाटपर सोनेका मर्म भी लो, चलते-चलाते तुम्हे बता दूँ। यह मर्म है आदमीका यह विश्वास कि बुरा तो कभी हो ही नही सकता, सब कुछ भला ही भला है। अब वह कर्मोके फलकी चिन्तामे ही नही, प्रभावसे भी बच जाता है। अब तो वह एक यात्री है,जिसे अपनी राह चले चलना है। बस बिना रुके, बिना झुके, चले ही चलना है; यानी उसकी नज़र इसपर नही कि जीवनमे मुझे क्या मिला और क्या नही। बस, उसके देखने-सोचनेकी सीमा तो यह है कि मै जिया किस तरह—मेरे जीनेमे कोई खोट तो नही, कोई कमी तो नही, कोई कुरूपता तो नही।"

जब मैंने नया पोस्टर पढ़ा !

आज बाहरसे आया, तो देखा प्रेसके बाहर जो नया पेशाब-घर बनाया गया है, उसकी दीवारपर छपे हुए २-३ कागज लगे हैं। छपाई मोटी। दूरसे ही पढ़ा—

यह पेशाबघर केवल प्रेसके कर्मचारियोंके लिए है।

बार-बार मैंने उसे देखा और बार-बार उसे पढ़ा। देखते-देखते ही कुछ क्षणमें मुझे लगा कि यह पोस्टर मेरे कलेजेपर चिपका है, दीवारपर नहीं और उससे मेरे फेफड़े ठीक काम नहीं कर पा रहे हैं।

सीधे मैं प्रेसमें गया और पूछा कि यह पोस्टर किसने तैयार किया है ?

मेरे पुत्र अखिलेशजी बैठे थे। बोले—तैयार तो मैंने ही किया है।

अपनी बातको उपदेशकी कोटिमें जानेसे रोकनेको मैं जोरसे हँस पड़ा, और वातावरण जब मुलायम हो गया, तो मैंने कहा—"क्यों भाई, बहुतसे लोगोंने दूसरोंके आरामके लिए धर्मशालाएँ बनवा दीं, कुछने कुएँ खुदवा दिये, पर तुम्हें यह भी स्वीकार नहीं कि तुम्हारे पेशाबघरसे आते-जाते लोग अपनी जरूरत पूरी कर लें, जबकि इसमें तुम्हारा न एक पाई खर्च बढ़ता है, न काम रुकता है, न कोई दूसरा ही नुकसान होता है।" अखिलेशजी उठे और उन्होंने तुरन्त वह पोस्टर दीवारसे खुरच दिया और यों यह पोस्टर-काण्ड समाप्त हो गया।

अब मैं अपनी कोठरीमें हूँ और देख रहा हूँ कि वह पोस्टर दीवारसे उतरकर भी मेरी खोपड़ीके भीतर चिपका है। फिर जब दाँतोंमें तिनका है, तो जीभ कैसे चुप बैठे और खोपड़ीमें खुरचन है, तो फिर मेरा कहा मानकर वह मेरे काममें कैसे लगे ?

अच्छा, तो क्या है जी, वह खुरचन,

खुरचन यह है कि आखिर किसीके दिमागमें यह पोस्टर लगानेकी बात उपजी ही क्यों ?

सोचते-सोचते ध्यान आया कि अखिलेशजीके घरके सामने ही स्टेट बैंक है और उसके पेशाबघरकी दीवारपर लिखा है—

"सिर्फ बैंक कर्मचारियोंके लिए।"

बस, कुन्जी हाथ आ गई कि बैंकके उस नोटिसको आते-जाते अखिलेशजी देखते रहे और भीतर ही भीतर उसकी छाप उनके मनपर पड़ती रही और यों एक दिन यह पोस्टर तैयार हो गया।

सहसा मेरे मनमें आया कि यह घटना विज्ञापनके महत्त्वपर कितना पैना प्रकाश डालती है। एक ही बात बार बार सुनते-देखते मनपर एक संस्कार बन जाता है और वह संस्कार तब हमारे कार्यका संचालन करता है। चायका प्रचार भी विज्ञापनके सहारे हमारे देखते-देखते हो गया और सिगरेटका पहले हो गया था। सिनेमाके हर खेलके लिए जो विज्ञापन होता है, वह हम देखते ही हैं।

मेरे मनमें एक सुई-सी चुभी—बुरी चीजको आवश्यक बनानेके लिए, जब इतने विज्ञापनकी आवश्यकता है, तो अच्छी चीजको; बुरोंके मनमें अभी जिसकी माँग नहीं है, आवश्यक बनानेके लिए कितने विज्ञापन और प्रचारकी आवश्यकता है ! पंडित नेहरूकी चीन यात्रासे लौटनेपर उनकी पुत्री श्रीमती इंदिरा गाँधीने एक पत्रकारसे कहा कि "मुझे चीनकी सबसे बड़ी विशेषता यह लगी कि वहाँके लोगोंमें अपने देशकी शक्ति बढ़ानेके लिए अत्युत्साह है।"

पत्रकारने ठीक ही पूछा कि इस उत्साहका स्रोत क्या है ? जन-जनमें यह उत्साह कैसे पैदा हुआ ?

उत्तर मिला—"इसका एक मुख्य कारण है निरन्तर प्रचार।"

इस प्रचारका उन्होंने एक बहुत ही सूक्ष्म उदाहरण दिया कि बिल्कुल छोटे बच्चोंमें सामूहिक जीवनके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेके लिए जिस प्रकारकी कहानियाँ सुनाई जाती हैं, उसका एक नमूना यह है :—

कुछ चिड़ियें एक साथ उड़ी जा रही थी। एक चिड़िया पीछे रह गई और खो गई। इसकी मददके लिए दूसरी चिड़ियें आईं और उन्होंने उसे परेशानीसे बचा लिया।

मेरे भीतर निरन्तर जागते प्रचारकको नई स्फुरणा मिली, पर मेरे प्रचारकके हाथ-पैर भले ही प्रचारकके हों, उसकी आत्मा विचारककी है। वह भले ही सफलताकी चाह करे, खोज तो उसकी सत्यके लिए ही होती है।

प्रचारकके शान्त होते विचारक उद्बुद्ध हुआ—स्टेट बैंकवाले हों या फिर विकास प्रेस वाले, उनके मनमें यह कामना क्यों उठती है कि उनकी वस्तुका कोई दूसरा उपयोग न करे?

हरेक अपने धन-वैभवपर, अपने मकानपर, सामानपर अपना ही कब्जा चाहता है और उसे यह गवारा नहीं कि उनपर कोई दूसरा हाथ रखे, पर अपनी कोई हानि नहीं और दूसरोंको लाभ, इस सौदेमें भी आदमी क्यों कृपण हो?

प्रश्नका उत्तर तुरन्त न मिला, तो मन उसकी खोजमें निकल पड़ा और जा पहुँचा श्रीरामचन्द्र शर्मा 'महारथी'के घर। शर्माजीका घर जाने कितने मित्रोंकी धर्मशाला रहा है, पर उस दिन उनके जीनेमें चढ़ा, तो देखा कि उनके शौचालयपर एक ताला लगा है। सोचा-घरका द्वार खुला है और शौचालयपर ताला लगा है, यह एक अजीब नक्शा है।

बातों-बातोंमें बच्चोंको टटोला, तो पता चला कि आस-पासके लोग रात-अंधेरेमें घुस आते हैं। सोचा कि यह बात बुरी है, पर सोचा कि इसमें बुराई क्या है? शौचालय फ्लशका है, इसलिए आस-पासके लोग सम्भ-

वत जिन्हे अपने शौचालय सुलभ नही हैं, किसी पडौसीके शौचालयका उपयोग कर ले, तो क्या यह कोई दुरुपयोग हुआ ?

नही, यह दुरुपयोग नही है और मनमे आया कि निश्चय ही यह शर्माजीकी अनुदारता हैं। अनुदारता, सकीर्णता और अमद्भावनाके वातावरणमें मेरा साँस घुटता है, सो घुटता रहा और मुझे यह भी सोचना पडा कि भविष्यमें मैं यहाँ नही ठहरूँगा, पर दूसरे दिन प्रात सोकर उठा, तो मैं ही सबमे पहले उठनेवाला था और इस प्रकार मैं ही सबसे पहले शौचालयमें गया। ताला उसपर नही था—मेरे मित्रने मेरी वृत्ति जान उसे हटा दिया था, पर किवाड़ खोलते ही मैं सन्न हो गया। शर्माजी सफाई-पसन्द आदमी है, स्वय सफाई करनेमे विश्वास रखते है, इसलिए हमेशा उनका शौचालय भी चन्दन-चौक रहता है, पर आज तो वह पूरा नरक था—उसकी कुण्डीम तो मल भरा ही था, चारों ओर भी गन्दगीके टीबे थे !!

मनमे गुस्सा आया, गलेमे गालियाँ उभरी और सोचा—इन आदमियोंमें और कुत्तोमे क्या अन्तर है और शर्माजी ताला लगाकर इनसे बचते हैं, तो क्या बुरा करते है ?

नल चलाया, सफाई की, तब कुण्डी पर बैठा और सोचने लगा कि जो शौचालयका उपयोग करे, वह उसकी स्वच्छतामें भी अपना हिस्सा दे, यह सुबोध व्यवस्था है, पर आनेवाला अबोध हो और स्वच्छतामें भाग न ले, तो उसके बाद आनेवाला सुबोध उसके भागको पूरा करनेमें झल्लाये क्यो और भविष्यके लिए ताला लगाकर उसका प्रवेश भी क्यों रोके ? वह सुबोध है, तो अपनी सुबोधता क्यों छोड़े ?

एक बार फिर तालेके विरुद्ध मन विद्रोही हो उठा, पर तभी समन्वय की सृष्टि हुई कि कोई सुबोध इस स्थितिमें भी उदार रहे, तो वह निश्चय ही आदर्श है, प्रशसनीय है, पर सहज और स्वस्थ वृत्ति यही है कि हमारा जीवन

व्यवहार ऐसा रहे कि उससे दूसरेके जीवनकी उदारता पुष्प-पनपे, सकुचित या नष्ट न हो।

आज जो अनुदार हैं, कृपण हैं, संकीर्ण हैं, कल निश्चय ही उनमेंसे अधिकांश उदार रहे होंगे और दूसरोंके व्यवहारोंने ही उनकी उदारतापर ताला लगाया होगा, पर यह कितनी विचित्र बात है कि वे दूसरे ही अब उस अनुदारतापर भाषण देनेमें सबसे अग्रणी हैं।

भाई बालकृष्ण अरोड़ा याद आ गये मुझे। उस दिन बातों-बातोंमें उन्होंने अपने एक मित्रका संस्मरण सुनाया, जिसने उनके साथ बार-बार विश्वासघात किया। अन्तमें कहने लगे—पहले कोई मिलता था, तो मैं मान लेता था कि यह सज्जन हैं, जबतक कि अपने व्यवहारने अपनेको दुर्जन सिद्ध न कर दे, पर कोई अब मिलता है, तो मान लेता हूँ कि यह दुर्जन है, जबतक कि अपनेको यह अपने व्यवहारसे सज्जन सिद्ध न कर दे। इस परिवर्तनके लिए उत्तरदायी कौन है ?

एक दूसरे मित्र हैं। पहले सबके कामके लिए तैयार रहते थे। फ़ौजदारीके मुकदमेमें एक मित्रकी जमानत की, महीनों खिंचे फिरे। तबसे ऐसे चौकन्ने हो गये हैं कि पुट्ठेपर हाथ ही नहीं रखने देते और जिन्होंने उन्हें ऐसा बनाया है, वे ही सब जोरसे कहते हैं—बहुत दिमाग हो गया है अब। मैं कभी ताले कुंजीमें विश्वास न रखता था। उस दिन मैं जरा शौच गया कि वह बालक आया और चुपचाप जेबमें हाथ डाल सब रुपये निकाल ले गया। दूसरे दिन मैं शौच गया, तो आप ही आप बिना सोचे दरवाजा बन्द कर गया—बाहर न सही, अन्तर चेतनामें तो घटनाका प्रभाव था ही !

विश्वासघात, तभी शायद सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि यह समाजके सर्वोत्तम गुण—सहज विश्वासपर डाका डालता है। हम इससे बचें और यों भलोंको बुरा बनानेका काम न करें।

अजी, क्या रक्खा है इन बातों में!

देखिये, आप जानते हैं मैं एक पत्रकार हूं। वैसे तो गली-गली पत्रकार हैं और ऐसे पत्रकार कि क्या बताऊँ आपको कि न उनका सम्बन्ध है किसी पत्रसे और न वास्ता कारसे, पर हैं वे इतने बड़े पत्रकार कि उनके लैटर पेपरपर भी यह छपा है और घरके बाहरके छोटे बोर्डपर भी।

बहुतसे साथी हैं कि उन बेचारोंकी मजाक उड़ाते हैं। शायद आप भी उनमें हों और बहुतसे साथी हैं कि उन्हें ताने देते हैं, उनपर नाराज होते हैं, उनसे कुढते हैं, पर मुझे न ताने सूझते हैं, न झुँझलाहट आती है।

देख रहा हूँ कि आपके चेहरेपर जो नाक है, वह ज़रा सिकुड़ गई है और इससे आपका पूरा चेहरा ही एक प्रश्नचिह्न बन गया है। साफ है कि आपके गले मेरी बात नही उतर रही है, पर आप तो जानते ही हैं कि मैं एक पत्रकार हूँ और मेरा काम ही बातोंको गले उतारना है, तो मैं आपके प्रश्नका समाधान अवश्य करूँगा।

और फिर समाधान क्या था इसमें? यह न कोई दर्शनकी गुत्थी है, न राजनीतिकी समस्या, बातोंकी बात है और बातका और मट्ठेका बढाना क्या, घटाना क्या? अरे भाई, बात तो सिर्फ़ इतनी है कि वे कहते हैं हम पत्रकार हैं और मैं कहता हूं कि बधाई आपको कि आप बेकार तो नहीं हैं, कुछ न कुछ कार हैं। अब आप ही बताइये कि इस हालतमें ताने, नाराजी और कुढनकी गुंजाइश ही कहाँ है?

जी, देखिये, कुढ़नकी इसमें गुंजाइश नही है, पर इसमें यह गुंजाइश भी नही है, कि आप मुझे भी ऐसा ही पत्रकार समझ बैठें। मैं पत्रकार हूँ, यानी सम्पादक हूँ अपने पत्रोंका।

यह लीजिये वह आ रहा है सामनेसे प्रेसका फ़ोरमैन। लोग समझते

हूँ, जाने क्या होता है सम्पादक, पर यहाँ ८ पन्ने पूरा करनेमें हो जाता है भुस। हाँ जी, भुस ही है और क्या कि लगने लगता है, जैसे भीतर न खून रहा हो न रस, बस सूखा-सूखा और रूखा-रूखा।

"क्या बात है भाई खैरातीलाल ?"

"बात यही है कि अग्रलेख अभी तक नहीं मिला और साप्ताहिक लेट हो रहा है। अब शामके ६ बजे हैं। नोट कर लीजिये कि आपने रातमें नौ बजेतक अग्रलेख न दिया, तो कल पत्र नहीं निकलेगा और यह भी सोच लीजिये सम्पादक जी, कि कलकी जगह वह परसों डाकमें पड़ा, तो सबका सब बैरंग हो जायेगा। गंगाधरजी तो और तरहके पोस्ट मास्टर थे। वे देर-सबेर भी ले लेते थे, पर यह जो अब नये आये हैं, बस घड़ीकी सुई और कलेण्डरकी तारीख़ देखकर काम करते हैं। मैंने सब बातें आपसे कह दी हैं, अब आप जानें और आपका काम। तो नौ बजे भेज दूँ सोहन या गिज-वानको मैटर लेने ?"

"हाँ, हाँ जरूर भेज देना। मुँह-हाथ धोकर चायका प्याला पिये अब बैठता हूँ मेजपर। तुम ९ क्या ८॥ बजे ही मँगा लेना लेख।"

खैरातीलाल चला गया और मैं अब मेजपर जा रहा हूँ। इंजीबिटियाने मुझे गरम-गरम चाय पिला दी है और मूड ऐसी ताजमताजा हो रही है कि कोई दिमागमें हाथ डालकर चाहे, तो पूराका पूरा अग्रलेख निकाल ले। लेख क्या है भारतकी बहुंमुखी प्रगतिको देखनेके लिए एक नया चश्मा ही है।

जी हाँ, एक नया चश्मा। बात यह है कि आँख कमजोर हो, तो उसे साफ़ नहीं दीखता, पर चश्मा लगा लो, तो जोत जाग जाती है। सदियोंकी गुलामीमें भारतकी आँखें कमजोर हो गई है, इसलिए स्वतन्त्र भारतमें जो कुछ हुआ—हो रहा है, उसे हम समझ नहीं पाते। हमारी आँखें नरकको देखनेकी आदी हो गई हैं, पर स्वतन्त्र भारत कर रहा है उन्नति।

मेरे अग्रलेखके चश्मेमे यह उन्नति साफ दिखाई दे जायगी।

"वाह भाई वाह, यह तरक्की और उन्नतिकी धुप्पट खूब रही। अरे भाई, जो खुदा वही ईश्वर और जो ईश्वर वही गॉड; भले आदमी, इनमें भी भला क्या भेद? और जो भेद इनमे नही, वह तरक्की और उन्नतिमे कहांसे आ घुसा?"

है न यही बात आपके मनमे, पर कहूँ एक बात; बुरा न मानियेगा, आपकी बात बस बातोंकी बात है, यानी बेबातकी बात। उसमें न जान है न मान—एकदम पोपली। भाई मेरे, तरक्की और उन्नतिमे बहुत फर्क है। बहुत अन्तर है। लीजिये पहले मेरा चश्मा आप ही लगाइये। तरक्की है भौतिक समृद्धि, बाहरी सुख-साधनोंकी वृद्धि और उन्नति है मानसिक समृद्धि, किसी ऊँचे उद्देश्यके साथ जीवनकी आन्तरिक प्रवृत्तियोंका जुड़ जाना।

मालूम होता है साफ-साफ ही कहना पड़ेगा आपसे। स्वतन्त्र भारतने बाँधो, योजनाओं, कारखानों, भवनोंके निर्माणकी दिशामें जो वृद्धि की है, वह तरक्की है और एक ईमानदार शान्ति-दूतके रूपमें जो कार्य किया है, वह है उन्नति—प्राचीनकी भाषामें एक है अभ्युदय और दूसरा है निःश्रेयस। कहिये, है न नया चश्मा?

तो अग्रलेख मेरा तैयार है मेरे मस्तिष्कमे, पर मेरा पत्र तो मस्तिष्क-पर नही, कागजपर छपता है और इसलिए अपना लेख भी मुझे कागजपर उतारना है। तो लीजिये, यह जम गया मैं और यह लिखा शीर्षक। बस अब फर्र—फर्र।

यह कौन चला आ रहा है मेरे कमरेकी तरफ? इन लोगोंके लिए न समय है न असमय, जब देखा उड़ लिये हवाके झोंके-से। ओह, राम-चरणजी हैं।

"ओहो! तो सम्पादकजी अभी अपनी कुर्सीपर ही जोग साध रहे

है। अरे भाई, चमगादड़ और उल्लू दुनियाके सबसे मनहूस जीव हैं, पर इस समय तो उनके परो और पैरोंमें भी चाल आ गई, पर तुम्हारा पहिया ऐसा जाम हुआ कि बस जमा सो जमा। अच्छा लो उठो अब कुर्सीसे।"

अच्छा लो अब उठो कुर्सीसे! यह खूब रही। मुझे अभी अग्रलेख लिखकर पूरा करना है, नही तो पत्र लेट हो जायगा और आप जानते है यह बहुत बुरी बात है। मैं उनसे कह रहा हूँ, पर कह वे रहे है—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोमे, लो उठो, बदनमे डालो कुरता और पैरोमे चमक-ओ चप्पल और बस फुर्र-फुर्र; सीधे लक्ष्मी टाकीजमे। अरे भाई, वो शानदार पिक्चर है सम्पादक जी, कि उसके एक-एक गीतपर दो-दो लेख और एक-एक डायलागपर चार-चार अग्रलेख न्यौछावर हो जाएँ।"

मैं अपनी मजबूरियाँ अपने बोलोमे पिरो रहा हूँ, पर उनके पास सबका एक ही उत्तर है अजी क्या रक्खा है इन बातोंमे और लीजिये वे मेरा कुरता खूंटीसे उतारे ला रहे है और मेरे चप्पलोको अपने बूटसे मसलते-धकेलते-सरकाते। उनके हर व्यवहारका एक ही अर्थ है—अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमे!

एक तरफ़ पत्रका अग्रलेख और दूसरी तरफ सिनेमाका शो। साफ-साफ़ एक तरफ प्रतिष्ठा और जिम्मेदारीका प्रश्न और दूसरी तरफ एक मामूली मनोरंजन, जो कभी भी किया जा सकता है। क्यो जी, यह क्या बात है कि इतने छोटेसे प्रश्नके मुकाबले, इतना बड़ा प्रश्न मेरे मित्रके गले क्यों नही उतरता? मैं अपने कामका महत्त्व जब उन्हे समझानेका प्रयत्न करता हूँ, वे कहते है—अजी क्या रक्खा है इन बातोमे और समझते हैं कि अब मेरी बात कोई बात नही और बस उनकी बात ही एक बात है, पर प्रश्न तो यह है, कि वे समझदार आदमी है, फिर मेरी बातको क्यो नही समझ पा रहे?

अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें !

मुझे याद आ रही है उस दिनवाली टेलीफोनकी बात। अरे साहब, अब क्या सुनाऊँ आपको, पर सुनानी तो है ही। मुझे अपने मित्र सेठ सेवकराम खेमकासे कुछ काम था कि मैंने टेलीफोन उठाया और उनका नम्बर माँगा। उनका टेलीफोन बहुत कम ऐसी भलमनसाहत बरतता है कि माँगते ही मिल जाये, पर उस दिन वह मिल गया और एक रूखी-सी आवाज़ कानोंमें पड़ी—"किसे पूछते हो ?"

मैंने सेवकरामजीका नाम बता दिया, तो पूछा—"कौन है आप ?"

मैंने अपना नाम उन्हे बताया—प्रभाकर! करूं भी क्या, उपनाम ही मेरा नाम हो गया है और वही मुझे बताना पड़ा।

"सेठ जी भीतर है, अपना नाम बताइये, तो हम उन्हें कह दें।" फोनसे फिर प्रश्न हुआ और मैंने फिर अपना उपनाम बताया—प्रभाकर। सुनते ही वे बोले—"क्या कहा—टमाटर ?"

अपने सम्बोधनमे हरेक आदमी जीवनमे बहुत कुछ सुनता है, मैं भी सुनता ही रहता हूँ, पर यह सुनना सचमुच कुछ सुनना था और सच बताऊँ आपसे, सुनते ही मैं तो हँसते-हँसते लोटपोट हो गया और टेलीफोन रख देनेके सिवा मुझे कुछ न सूझा, पर कहानीका क्लाइमेक्स अभी बाकी है। थोड़ी देर बाद सेवकरामजीसे फोन मिला, तो पूछा—अरे भाई, ये कौन थे फोनपर, जो मुझे टमाटर बना रहे थे ?

वे भी जोरसे हँसे और तब बोले—"भाई साहब, वे हमारे रसोइया जी थे। बात यह है कि उनकी रसोईमे आप तो कभी आते नही, पर टमाटर रोज़ आते है, अब आप ही बताइये कि प्रभाकरकी जगह वे टमाटरको याद करते है, तो क्या बुरा करते है ?"

सुनकर मुझे भी इतने जोरसे हँसी आई कि टेलीफोन रख देनेके सिवाय कुछ और नही सूझा, पर तभी खुल गई मेरे सामने रामचरणजीके आग्रह-

की बात कि वे मेरे अग्रलेखको महत्त्व न देकर सिनेमा चलनेको महत्त्व क्यों दे रहे थे ?

क्यों दे रहे थे ? वही तो कह रहा हूँ। बात यह है कि हम जो चाहते हैं, वह चाहने लायक़ है या नहीं, इसे भूल जाते हैं और भूल क्या जाते हैं चाहका चाव हमें दूसरी बातपर ध्यान ही नहीं देने देता, क्योंकि ध्यानका आधार है सम्पर्क, पर जब कोई बात अपनी गहराईसे अपनी सचाई और हमारी चाहके बीचमें आकर खडी होती है, हमें अपने बारेमें सोचनेको मजबूर करती है, तब सचाई और गहराईके उस तकाजेको टालनेके लिए हम एक ढालका प्रयोग करते हैं और वही ढाल है, अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें !

जीवन भी एक अद्भुत ग्रन्थ है, अजीब मखमसा है। इसमें बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें हमने कभी नहीं देखा और कभी नहीं जाँचा, पर हम उन्हें १०० नहीं सवा सौ फीसदी सच मानते हैं। ऐसी एक बात है कबूतर और बिल्लीकी। कहते हैं जब कबूतर अपने मजेमें गुटर गूँ लगा रहा हो और एक डरावनी बिल्ली कहींसे बचती-सिमटती अचानक उसके सामने आ कूदे, तो तै है कि बिल्ली नहीं, मौत ही छातीपर आ कूदी।

अक़लकी माँग है कि कबूतर अब एक भी पल खराब न करे, अपने पर तोले और झपाकेसे यों उड़े कि श्रीमती बिल्ली देवी जी देखा करें टुकर-टुकर और माँजा करें अपनी ही जीभसे अपने होंठ, जैसे रसगुल्ला किसी बच्चे-के ओठोंसे लगाकर नीचेकी गन्दी जमीनपर आ गिरा हो, पर नहीं, कबूतरजी न तोलेंगे पर और न लेंगे उडारी, बस अपनी जगह जरा सिमटेंगे और आँखें करेंगे बन्द और समझे आप कि समझेंगे यह कि न अब हम दीख रहे हैं देवीजीको और न कुछ कर सकती हैं हमारा वे।

कहते हैं जब आदमी सोता है, उसकी अक़्ल तब भी जागती रहती है। तो अब उनकी अक्ल उनकी इस समझदारीपर हँसेगी और कहेगी उनसे

कि भले आदमी, ज़रा आँखकी दोनों नही, तो एक ही पुतलीको टिमटिमाकर देख, यमराज अपना पंजा साध रहा है बौडम, पर जानते है आप कि कबू-तरजी क्या कहेंगे यह बात सुनकर?

वे कहेंगे बस यह कि अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें और बस ज़रा और सिमट जायेंगे वे महाशय, जैसे स्वयं ही अपनी गोटीका एक ग्रास,चपा-तीका एक लुकमा बना रहे हों। यह दुनिया दूसरोंको गोटीका ग्रास बनानेमें वैसे ही बहुत होशियार है, फिर जब कोई स्वयं ग्रास बननेमें सहायता-सहयोग देने लगे, तो क्या कहने---मुफ्तमें और मोटा। पता नहीं बिल्ली और कबूतरकी इस बातमें कितनी सचाई है और कितनी नहीं, पर मेरी आप मानें तो इसे सच मान लें और सच भी सचमुच १००फ़ी सदी।

अपनी बात कहूँ आपसे ? मैंने तो पिछले सालमें इसे पूर्ण सत्य मान लिया है और यह काम किसी खंडहर या वीरानेमें नहीं, भारतकी राज-धानीके चहल-पहली कनाट प्लेसमें एक बेचार बैठे-बैठे किया था।

"क्या किया था आपने कनाट सर्कसमें बैठकर ?" यह आप पूछ रहे हैं और मैं कह रहा हूं आपसे कि कनाट सर्कसमें बैठकर मैंने इसे १०० टका सच मान लिया था कि एक ऐसी भी दवा है जिसे खाकर आदमी भयको, खतरेको सामने देखकर भी आँख मीच सकता है और मान सकता है कि अब कोई भय नहीं रहा; बिल्कुल उस कबूतरकी तरह।

"ऐं ! क्या कहा कि ऐसी कोई दवा है कि जिसे खाकर आदमी सामनेके भयको भूल सकता है ?"

हाँ जी, आपका प्रश्न सही है, सच है, कामका है और मैं कहता हूँ कि हाँ, एक ऐसी दवा है और लीजिये बताऊँ आपको कि वह दवा ऐसी नहीं कि गोविन्द अत्तार पुड़ियामें बाँध दे या केमिस्ट किचनर शीशीमें घोल दे। वह दवा ऐसी है कि आप ही घोलें और आप ही पियें। वह दवा है यह शान

कि अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें और इस ज्ञानका साक्षात्कार मुझे कनाट सर्कसमें हुआ था।

बात यह हुई कि मैं कनाट सर्कस में एक बेंचपर बैठा ताजी हवा ले रहा था कि मेरे पास ही सड़कपर एक मोटर टैक्सी रुकी और उसका ड्राइवर और यात्री दोनो गुत्थमगुत्था होने लगे। लड़तोंके बीचमें आ कूदना और लड़ाईको असम्भव कर देना, मेरा स्वभाव है और स्वभाव न समय देखता है न स्थान। मैं भूल गया कि मै परदेशमें हूँ और जा पहुँचा युद्ध क्षेत्रमें।

पहला निशाना बिठाया मैंने ड्राइवरपर—"अपनी सवारियोंसे ही लड़ते हो भैया?" बोला—"बाबूजी, जब सवारी नाकू हो जाय तो क्या करें? सुबह आठ बजे इन्होंने टैक्सी ली और कुतुबमीनार और जाने कहाँ-कहाँ ले गये। अब ५ बजे गाड़ी छोड़ रहे हैं, तो कहते हैं कि किरायेके रुपये मेरे पास नहीं है।"

यात्री साहब झनककर बोले—'अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें। लो हटो, अब हमें जाने दो। दो चार दिनमें फिर मिलेंगे और न मिले, तो यार, कयामतके दिन अपना हिसाब कर लेना, वहाँ जरूर मिलेंगे।"

यात्रीकी यह बेफिक्री देखकर मुझे लगा कि ड्राइवरकी बात झूठी है और बात यह नही कुछ और है, पर तभी तमककर ड्राइवरने कहा—"कयामतके दिन नहीं, हिसाब तो मैं तुझसे अभी करूँगा बे!"

यात्रीने गुर्राकर कहा—"तो ले, अभी कर" और घूसा मारकर खिड़कीका शीशा तोड़ दिया। मैंने उसे थपथपाया—"आखिर बात क्या है? और ड्राइवर भाईकी बात सही है, तो आपको इसके किरायेके रुपये अभी देने चाहियें।"

नम्रतासे वह बोला—"बड़े भाई, रुपये जब जेबमें है ही नहीं, तो दे दूँ क्या इसे?"

तो जब रुपये आपकी जेबमें नहीं थे, तो आप दिनभर टैक्सीमें क्यों घूमते रहे मेरे भाई? मैंने पूछा तो वे तड़ाकसे बोले—"अजी, क्या रक्खा है इन बातोंमें। भाई साहब, सुबह-सुबह ही दो फ्रेंड मिल गईं और कहने लगीं कि चलो घूमने। महीनोंकी मनहूसियतके बाद खुशीका यह मौका मिला, तो मैं कैसे इन्कार कर देता, भला आप ही बताइये कि क्या रक्खा है इन बातोंमें !"

उसकी बात सुनकर सच कहूँ आपसे कि मैं मान गया कि कबूतर आँख मींचकर जरूर बिल्लीको भूल सकता है और यह दवा ऐसी है कि इसे खाकर आनेवाला भय और खतरा पास नहीं फटक सकता। सौ खतरे हों, लाख भय हों, उन्हें सोचो मत—अजी क्या रक्खा है इन बातोंमें !

तो क्या हमारे रामचरणजी, क्या कबूतरजी, और क्या हमारे यात्री-जी, सबकी बातोंमें एक बात है कि क्या रक्खा है इन बातोंमें—यानी क्या रक्खा है कर्त्तव्यमें और क्या रक्खा है ज़िम्मेदारीमें, छोड़ो उन्हें और जीवनकी मौज-बहार लूटो।

सोच रहा हूँ, तो छोड़ दूँ अग्रलेखकी चिन्ता और चला जाऊँ सिनेमा भाई रामचरणके साथ—आखिर इतनी दूरसे आये हैं ये ? अन्तःकरणका उत्तर है—कर्तव्यकी निष्ठा और दृढ संकल्प ही व्यक्तिको व्यक्तित्व देते हैं और इनमें ढील आई कि आदमी खोखला हुआ। नहीं, मुझे अपना काम करना है और कहीं नहीं जाना है—लाख बातें हैं, पर क्या रक्खा है इन बातोंमें !

मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवक़ूफ़ ?

[१]

"अच्छा भाई, आज तो फिर कोई कहानी सुना।"

"ले फिर सुन, पर हाँ, यह बता कि आपबीती सुनाऊँ या जगबीती ?"

"अरे भाई, जगबीती तो हमेशा ही जुगालते रहे, आज तो आपबीती सुना, जो दिलसे निकले और कलेजेमें समाये।"

यह लोक कथामें युग-युगोंसे चली आ रही आपबीतीकी भूमिका है और जब भूमिका मैंने यहाँ ली, तो मुझे भी आज अपनी आपबीती ही आपको सुनानी है, पर सोचता हूँ कि आपबीती भी क्या सुनानी है, आपसे एक सलाह लेनी है और सच तो यह है कि सलाह भी कुछ नहीं लेनी। बस एक अजब मखमसेमें उलझ रहा हूँ, तो चाहता हूँ कि आप ही हाथ पकड़कर किनारे लगा दें।

आँख नहीं तो जहान् नहीं; ठीक ही है, पर कमबख्त आपा नहीं देखती, दूसरोंको घूरा करती है। बात मेरी है, पर मेरी ही समझमें नहीं आती और क्या कहूँ आपसे कि चादरपर स्याहीके धब्बे मेरी ही दावातके हैं, पर तै नहीं कर पाता कि चादर मेरी है या उनकी ?

तो लीजिए फिर आपसे ही पूछता हूँ कि साफ-साफ बताइए—मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ या बेवक़ूफ़ हूँ ? ठीक ही है कि पहेली कोई बूझे तो अता-

पता बताये, पर आप जानते हैं कि लाग लपेट मुझे आती नहीं, साफ कहना मेरी आदत, तो अता-पता क्या, बस पूरा पता ही आपके सामने है।

[२]

"हिन्दीके एक साधक श्री०. . .जी अस्पतालमें पड़े हैं। परिवारमें कोई है नहीं, तो खबर कौन ले ? भय है कि यह इकलापन उनके जीवनका अन्त न कर दे। क्या उनके लिए कुछ हो सकता है ?" एक मित्रका यह पत्र मिला, तो मन सिहर उठा।

मैंने भाभीजी-ममतामयी श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसैन जैनसे सलाह की, तो तै हुआ कि उन्हें यहीं बुला लिया जाय। खर्चेके रुपये मित्रको तारसे भेजे कि वह उन्हें यहाँ छोड़ जाँय और तीसरे दिन वे आ भी गये। डेढ़ महीना वे भाभीजीके घर अतिथि रहे। भोजन-पथ्य तो उन्होंने किया ही, हरद्वार-ऋषिकेशकी यात्रा भी उन्हें करा दी।

अब आया उनकी बिदाईका समय, तो सोचा कि अभी बीमारीसे उठे है, घर पहुँचते ही पैसा कहाँ पायेंगे। भाभीजीसे कुछ कहना जँचा नहीं, तो भाई सेवकराम खेमकासे बात की। उन्होंने चलते समय आदरसे भोजन कराया और १००) रुपये उन्हें भेंट कर दिये। वे चले गये।

मैं सन्तुष्ट था कि उन मित्रका पत्र मिला—"श्री· · ·जी नाराज हैं कि आपने चलते समय उन्हें श्रीमती चन्द्रवतीजीसे कुछ नहीं दिलाया—या देनेसे मना कर दिया।"

दूसरे साल श्री · · ·जी अपने पैरों यहाँ आये और स्टेशनसे सीधे खेमकाजीके घर पहुँचे—वहीं अतिथि हुए। मेरी दुष्टताका खूब बखान किया। भाभीजीसे भी मिले। दोनोंको संकेत भी किये, पर दक्षिणा कहींसे न मिली, सिर्फ टिकट ही हाथ आया।

इस यात्राकी जो रिपोर्ट उन्होंने साहित्यिक मित्रोंको दी, वह इस प्रकार है—"चन्द्रवती तो उत्तराखण्डकी वनलक्ष्मी है, पर उसके द्वारपर एक ब्रह्मराक्षसका पहरा है!"

साफ है कि वह ब्रह्मराक्षस मैं हूँ!

[२]

एक उदीयमान कविसे पत्र-व्यवहार हुआ और जो बना, उनकी सेवा भी की। मेरे प्रदेशमें एक साहित्यिक-सम्मेलन हो रहा था। उनका पत्र आया कि मेरी इच्छा भी उसे देखनेकी है, पर जेबमें एक पैसा नहीं।

सम्मेलनके मन्त्रीसे मिलकर उन्हें निमन्त्रण भिजवा दिया और इण्टर क्लासका मार्ग-व्यय भी। वे आये, बहुत कृतज्ञ थे कि जीवनमें पहली बार ऐसी ममता मिली। सम्मेलन देखा, मसूरीतक घूमे।

घरमें माँ थी, छोटी बहन थी। बहनके लिए एक साड़ी ले जाना चाहते थे और टिकट तो अनिवार्य ही था। पूछा, तो बोले—१५) रुपये साड़ीके लिए चाहिएँ और १०) किरायेके लिए।

अपनी जेब तो आम तौरपर आकाश-तत्त्वसे परिपूर्ण रहती है। भाई सेवकराम खेमका और उनके अनुज श्री मेवकराम खेमका से २५) के लिए कह दिया। दूकानपर एक साड़ी देखी, जो उन्हें बहनके लिए पसन्द थी, पर उसका दाम २२) रुपये था। बजाज बन्धुको कह दिया कि सिर्फ १५) ही मिलेंगे और साड़ी उन्हें ले दी।

भाई खेमकाबन्धु व्यवस्थाचार्य माने जाते हैं, पर काममें भूल गये और शामतक रुपये न भेज सके। गाड़ी सुबह ७ बजे ही जाती थी, इसलिए १०) एक पड़ौसीसे उधार ले उन्हें दे दिये और पहुँचाने स्टेशन गया, तो प्लेट-फार्मपर खेमकाजीका आदमी मिला—२५)का लिफ़ाफा साथ!

गाडी उन्हे लेकर चली गई, लिफाफा लिये मैं लौट आया। १५)
बजाजको भेज दिये, १०) पडौसीको। समझा, फाइल खत्म हुई, पर ४-५ दिन बाद ही एक साहित्यिक मित्रके पास, मैंने ही उनसे जिनका परिचय कराया था, पत्र आया कि "मैं यह रहस्य नही समझ पाया कि आखिर भाई साहबने मेरे २५) कैसे अपने पास रख लिये?"

साफ है कि मैं चन्दा-चक्रवर्ती तो था ही, चन्दा-चटोर भी हो गया !

[४]

चिडियाके बच्चेकी तरह मैंने उसे पोसा। हालत ही तब ऐसी थी कि आँधीका झोका तो दूर, हवाका एक झपका भी उसे ले डूबता। उसे स्वीकार है कि उसके लिए जो मैंने किया, वह जीवन-भर और किसीने नही किया और उसे स्वीकार है कि उससे अधिक कोई किसीके लिए कर सके, यह असम्भव है।

उसकी घोषणा है कि मैं प्रशसनीय ही नही, उसके लिए पूजनीय हूँ, पर मजेदार बात यह है कि हम दोनोंके सम्बन्धोमें नीम और बबूल पनपे, आम और लीचियाँ नही—कड़वाहट इतनी कि उससे बढकर भी हो सकती है, यह मुझे यकीन नही आता, कल्पना नही होती !

भला क्यो? उसे शिकायत है, उसके लिए यह असह्य है कि वही व्यवहार मैं दूसरोके साथ क्यो रक्खूँ! उसकी अन्तश्चेतना है कि वह असाधारण सिद्ध हो; यानी जो कुछ मैंने किया, वह अपनी सद्भावनाके कारण नही, उसकी असाधारण पात्रताके कारण किया। ठीक भी है, जब वही व्यवहार दूसरे भी पायें, तो उसकी असाधारणता कहाँ ? नतीजा यह कि न वे मुझसे खुश हुए, न मैं उनसे खुश, बस जीवनमें एक हगामा-सा मच कर रह गया।

[५]

बस, एक ही और! वे मुझसे बहुत दूर हैं, कभी उन्हें देखा नहीं, सिर्फ पत्र-व्यवहार है। उनके कामसे मैं उन्हें पसन्द करता हूँ और चाह मनमें रहती है कि उनको कोई कष्ट न हो।

समय-समयपर जब भी उन्होंने याद किया, मैं उनके निकट आया—जो बना सो किया। उनके ही शब्द हैं—"जीवनमें कई बार तो तुमने मौतसे मुझे उबारा है।"

अब वे भी मुझसे नाराज हैं; क्योंकि वे अब जो कुछ चाहते हैं, उसके लिए एक लम्बी भाग दौड़की जरूरत है और अपने सिरकी भयंकर बीमारीके कारण यह भाग दौड़ मैं कर नहीं सकता। मैं उन्हें जो पत्र लिखता हूँ, उसमें वे और सब कुछ पढते हैं, सिर्फ मेरे रोगकी बात नहीं पढते। मेरे पुत्रने जब उन्हें यह समाचार दिया कि मैं दिल्लीके स्टेशनपर रेलके पुलसे लुढक गया, तो इसके उत्तरमें भी उन्होंने यही लिखा—"मेरे लिए वे कब कुछ करेंगे!" और उसीमें यह भी—"मेरे लिए उन्होंने अभीतक कुछ भी नहीं किया।"

[६]

ये तो हुई परिचितों-मित्रोंकी बातें, पर यह भी अक्सर हुआ है कि न जान-न-पहचान, कहीं उन्होंने नाम सुन लिया और पत्र लिखा, जिसमें उनकी परेशानियोंकी चर्चा और किसीके बात न सुननेकी शिकायत!

अपने पास तो प्रेरणाकी ही पूँजी है और इसीका दो तरहसे उपयोग कि किसी उदार मित्रको कहकर कुछ रुपये उनके पास भिजवा दिये और उन्हें प्यार-प्रोत्साहनसे पूर्ण एक पत्र लिख दिया।

रुपये और पत्र उन्हें मिले कि उनका मान और गुणगानसे भरा पत्र आया और यह अनुरोध भी कि मैं उनके लिए कोई स्थायी व्यवस्था करा दूँ।

मैंने उनसे स्थायी व्यवस्थाका अर्थ पूछा, उनकी योग्यता जानी और आश्वासन दिया कि कहीं कुछ हो सका, तो प्रबन्ध करूँगा। बस, अब कभी दूसरे और कभी तीसरे दिन यह पत्र कि अभीतक आपने कुछ नहीं किया। मुझे मालूम है कि आपका देश-भरमें परिचय है। आप ऐसे-वैसे हैं; यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं।

अब यदि यह प्रबन्ध हो गया, तो कोई बात नहीं, पर प्रयत्न करने पर भी न हुआ, जैसा कि सम्भव है, तो बस फिर २-४ तेज-गरम पत्र और इधर-उधरकी बुरी चर्चा—"बस साहब, बात ही बात है, करना-धरना कुछ नहीं।" और यों भी—"मुझे दो महीने उलझाये रखा और फिर पटक दिया।"

[७]

इस तरह मैं देखता हूँ नाराजीके छोटे-बड़े अनेक गुब्बारे मेरे चारों ओर उड़ रहे हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ये गुब्बारे मुझे बर्र-ततैये और इससे भी बढ़कर साँप बिच्छू, दीखने लगते हैं।

बेचैन हो जाना, तो मेरा स्वभाव नहीं, पर फिर भी कभी-कभी यह सोचना तो पड़ता ही है कि मैं बद हूँ, बदनसीब हूँ, या बेवकूफ ? मेरी इस प्रश्न-मालाका अर्थ होता है कि मैंने कोई नालायकी की है, भूल की है या यह सब मुझपर थोप दिया गया है ? मुझे कोई उत्तर तो शायद मिलता नहीं, पर हँसी जरूर आ जाती है। अपनी ही हँसीके इस मन्दप्रकाशमें मैं अपनेसे ही पूछने लगता हूँ—इन लोगोंकी तुझसे कोई लड़ाई नहीं, दुश्मनी नहीं कि ये तुझसे नाराज हों, तुझे बुरा-भला कहें, फिर इस कड़वाहटका रहस्य क्या है ?

अपनेसे अपने आप ही पूछे इस प्रश्नकी गहराइयोंमें मैं उतर जाता हूँ, उतरा चला जाता हूँ, तो देखता हूँ कि दुखकी, संकटकी, परेशानीकी घड़ियोंमें मनुष्यका मन अति आशावादी हो जाता है और वह दस मित्रोंकी

उपेक्षा सहकर जब कहीं जरा-सा भी सद्भाव पाता है, तो उसे लगता है, बस यही है वह, हाँ, यही है वह, जो मुझे सब संकटोंसे पार कर देगा। उसे इससे एक शान्ति मिलती है, विश्राम मिलता है और वह विरामकी कल्पना कर लेता है—

—और यह भूल जाता है कि हरेककी अपनी सीमा है, अपनी शक्ति है। बस जब यह भूल खुलती है, तो वह झटका खाता है और बौखला उठता है। बात यह है कि एक दुखको हम विवशताकी शक्तिके सहारे झेलते रहते हैं, पर बीचमें थोड़ा-सा सुख पाकर जब हम फिर उसी दुखमें घिरते हैं, तो वह अब हमारे लिए एकदम असह्य हो जाता है; हालाँकि कलतक हम उसे काफ़ी धीरजसे सह रहे थे!

मैं सोचता हूँ, बीमारीकी जड़ तो यों हाथ आ गई दीखती है; पर इसका इलाज क्या है? प्रकृतिका विधान विचित्र है कि पहाड़ोंपर जहाँ 'बिच्छू घास' होती है कि छूते ही नस-नसमें लहर हो जाय, वहीं 'पत्ता' भी होता है कि मलते ही लहर बुझ जाती है। इस रोगमें ही इसका इलाज भी है।

जबतक आजकी या आज जैसी समाज व्यवस्था है, इस तरहकी परेशानियाँ रहेंगी और उनमें मनुष्य मनुष्यसे उम्मीद भी करेगा ही, तो यों ये दो आदमी, जिसमें एक है परेशान और दूसरा वह, जिससे उस परेशानीमें है सहायता-सहयोगकी उम्मीद!

बस, तो पहला 'कुछ' चाहे, बहुत कुछ' न चाहे और 'सब कुछ' तो कभी न चाहे, क्योंकि दूसरेकी भी सीमाएँ हैं, यह वह भूला कि भटक गया!

और दूसरा जो कुछ कर सके करे, पर एक भी शब्द ऐसा न कहे, न लिखे, जिससे पहलेका 'कुछ' पलक मारते "बहुत कुछ" में 'सब कुछ' तक पहुँच जाए। यही नहीं, इतना और भी कि साफ़ तौरपर ऐसी दीवार खींचनेमें न चूके, जिसे छलाँगना पहलेकी उमीदों-आशाओंके लिए सम्भव हो!

बेईमान का ईमान, हिंसक की अहिंसा और चोर का दान !

दोपहर भोजनके बाद मुझे ध्यान आया कि मेरे अतिथिको पान मिलना चाहिए। कोई पास था नही, तो मै ही चला गया सिनेमाके पासवाली दूकानपर।

"भाई, मेरे पास दो रुपयेका नोट है और मुझे दो पान लेने है—दोगे ?" बादकी उलझनसे उसे और अपनेको बचानेके लिए दूकानदारसे मैंने कहा।

वह पान लगाने लगा, मै खडा रहा। तब पान लिये, नोट दिया और उसने जो एक रुपया और बाकी खरीज दी, उसे जेबमे डाल चल पड़ा। खोटा-खरा देखना मेरे सस्कारके विरुद्ध है; क्योंकि मै पारखी नही, विश्वासी हूँ। अक्सर खोटे सिक्के आ जाते है और अपने नियमके अनुसार उन्हे कुएँ या नालीमें फेक देता हूँ। उन्हें किसीको चलाता नही और इस तरह प्रतिमास ही कुछ-न-कुछ आर्थिक हानि सहता हूँ, पर सस्कार और सिद्धान्त हानि-लाभ देखकर तो जीते नही, तो खरीज बिना देखे ही जेबमे डाल-कर मैं लौट पडा।

"बाबूजी, सुनिएगा जरा।" किसीने पीछेसे मुझे पुकारा, तो मुड़ देखा कि वह पानवाला ही पुकार रहा है मुझे।

"वे पैसे दिखाइयेगा जरा।" पास आते ही उसने कहा, तो लगा कि यह शायद ज्यादा पैसे दे गया है। मैने जेबसे ज्यो के त्यो निकालकर उसे दे दिये वे पैसे, तो उसने उनमेंसे एक सिक्का उठाकर अपनी सन्दूकचीमे रख लिया।

मैंने सोचा—ठीक है, ज्यादा ही दे दिये थे इसने कुछ पैसे, अच्छा ही हुआ इसको ध्यान आ गया। नही तो खामख्वा बेचारेको नुकसान होता, पर तभी उसने अपनी सन्दूकचीमेंसे निकालकर एक सिक्का उनमे रक्खा और पैसे मुझे लौटा दिये।

मैंने उन्हे फिर ज्यो का त्यो, जेबमे रख लिया और पूछा—"क्यो, क्या बात थी भाई ?"

"कुछ नहीं बाबूजी, एक चवन्नी खोटी थी उनमे, वह बदल दी है।"

मैं चल पडा और तब आप ही आप उसने कहा—"ऐसे आदमीसे भी क्या बेईमानी करना, जो देखे, न गिने !"

अब यह रहस्य मेरे सामने खुला पडा था कि उसने मुझे जान-बूझकर खोटी चवन्नी दी, धोखा देनेका प्रयत्न किया, पर मैंने उसका पूरा विश्वास किया कि न खरा-खोटा देखा, न गिनती की। मेरे इस विश्वासने उसके मानसको झकझोरा। यह झकझोर इतनी प्रबल थी कि वह उसे सह न सका और स्वय बुलाकर उसने वह खोटी चवन्नी वापस ले ली।

विश्वासकी यह विजय, मानवताका यह सस्पर्श मेरे तन-मनपर छा गया और लगा कि उसने मुझे केवडा पडी मीठी शिकजबी पिलाई है अभी-अभी और उसकी सुगन्ध और स्वादसे मेरा अन्तर भर-भर उठा है।

"क्यो भाई, फिर तुमने पहले ही यह खोटी चवन्नी मुझे क्यो दी थी ?" मैंने उसे तराजूपर चढाया।

"और क्या करे बाबूजी ? गाहक लोग उस्तादीसे हमारे सिर मढ जाते है खोटे सिक्के और सफाईसे हम उनकी ही जेबमे उतार देते हैं उन्हे।" बिना झिझके वह खुल पड़ा—"इन्हें मै अपनी दूकानमे तो कुछ बनाता ही नहीं।"

"अपनी जगह ठीक है तुम्हारी बात।" मैंने उससे कहा और लौट पड़ा, पर क्या मेरी बातका यह मतलब था कि मै उसके कार्यका समर्थक

हूँ, उसे ठीक मानता हूँ ? मेरा मतलब था यह कि मैंने मान लिया था कि वह पानवाला मूलमें बेईमान नहीं है—सिर्फ दूसरोंके द्वारा अपने साथ किये बेईमानेको बेईमानेसे बचानेमें विश्वास करता है। कुश्तीकी भाषामें-यह विरोधीके दावको उसीके दावसे काटना है।

"—पर मैंने तो इसके साथ कोई बेईमानी नहीं किया था, फिर इसने मेरे साथ क्यों बेईमानी की ?" यह एक उपप्रश्न आया, पर मनके पास उसका समाधान जैसे पहले ही तैयार था—"इसके लिए तुम, ये, वे, कोई अलग-अलग व्यक्ति नहीं—एक ही व्यक्तित्व है गाहक ! बस गाहकने इससे बेईमानी की, इसने गाहककी हजामत बना दी। गाहक गाहक सब एक, पर आज जब इसकी दूकानपर एक ऐसा गाहक आया, जिसके विश्वासी व्यवहारसे सिद्ध हुआ कि यह गाहक तो है, पर बेईमान नहीं, तो इसके भीतरकी सहज ईमानदारीने कहा—बेईमानके साथ बेईमानी तो ठीक है, तेरा नियम है, पर यह तो आज तू ईमानदारके साथ बेईमानी कर रहा है; और बस उसने मुझे स्वयं बुलाकर खोटी चवन्नी बदल दी।"

लौटते-लौटते मैंने सोचा—यह तो बेईमानके ईमानका ही दर्शन हुआ आज और बस मैं आनन्दसे भर गया, पर अपने पलग पर लेटते-लेटते मेरे अन्तरकी आँखोंमें घूम गया पेशावरका किस्साखानी बाजार और २३ अप्रैल १६३० की सुबह !

तब भारत गुलाम था और गुलामीके विरुद्ध एक बार सारा देश उभर उठा था। शराब और विदेशी वस्त्रोंकी दूकानोपर स्वतन्त्रताके स्वयसेवक धरना देते, लाठी चार्जके बीच भारत माताकी जय बोलते, जुलूस निकालते, आजादीके तराने गाते, जलसोंमें हुँकारते और इन्कलाब जिन्दाबादके नारोंसे आकाशको गुंजा देते। सरकार उन्हे गिरफ्तार करती, तो मालाएँ पहने और हजारोंकी भीड़में घिरे-घिरे वे यो जेल जाते, जैसे अपनी ही

शादीमे जा रहे हो!

अंगरेज़ सरकार देशके इस नये उभारसे चिन्तित थी, पर उन्ही दिनो सरहदके सूबेमें जो कुछ हो रहा था, उससे तो वह बहुत ही परेशान थी। वहाँ सरहदी गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खानके तपस्वी नेतृत्वने खूनी पठानोको अहिंसाका सर्वोत्तम सिपाही बना दिया था और वे लालकुर्ती दलके रूपमे स्वतन्त्रताके युद्धमे कूद पडे थे।

२३ अप्रैलसे पेशावरमे भी शराब और विदेशी कपड़ेकी दूकानोपर धरना आरम्भ होनेवाला था और इसमे अगरेज सरकारको अपनी मौतका वारण्ट दिखाई दे रहा था। देशव्यापी यह धरना, सरहदमे उसके लिए उस अजगरकी तरह था, जो आदमीको अपनी कुण्डलीमे फँसा, अपनी ताकतवर ऐंठनसे उसकी हड्डी-पसलियाँ तोड़ डालता है। उसे भय था कि यह आग कबायली इलाकोमें फैल गई, तो बस फिर होली ही होली है। वह जानती थी कि मौतके खिलाड़ी पठान जेल और लाठीसे डरनेवाले नही, इसलिए उसने आगसे आगको बुझानेका फैसला कर लिया था और गढ़वाली पलटनको आज किस्साखानी बाजारमे ला खड़ा किया था!

अब एक तरफ थे गढ़वाली जवान—अपनी राइफलोंसे लैस-लब्बैक और दूसरी तरफ़ लालकुर्ती पठान—अपनी बलिदानी भावनासे सजे-धजे। कांग्रेसका तिरंगा झण्डा आकाशमे फहरा रहा था। चारो ओर बाज़ारोमे, छतोपर, खिडकियोमें दर्शक ही दर्शक थे। एक अजीब वातावरण था, जिसमे सनसनी थी, उल्लास था, कुतूहल था, दर्प था, हुँकार थी!

कम्पनीका कमांडिग-आफीसर कैप्टेन रिकैट तना खड़ा था। उसकी परवाह न करके स्वतन्त्रताके स्वयसेवक गढ़वाली सिपाहियोंके पास आ-आकर उन्हें देशकी बात समझा रहे थे। यह देखकर रिकैट चिल्लाता—"हटाओ इनको यहाँसे!" और तब लम्बी-लम्बी सीटियाँ बजाता और

चिल्लाता—"भाग जाओ, भाग जाओ!"—पर उसकी आवाज़ और सीटी, जैसे वहाँ कोई भी नहीं सुन रहा था!

तभी एक गोरेने आकर रिकैटके हाथमें पर्चा दिया। उसे पढ़ते ही वह चिल्लाया—"तुम लोग भाग जाओ यहाँसे, नहीं तो गोलीसे भून दिये जाओगे!"

वह मृत्युके ताण्डवकी पहली थाप थी, पर एक भी आदमी वहाँसे नहीं हटा। कैप्टेन रिकैट तमतमा रहा था। फौजी आदेशकी टोनमें उसने कहा—"गढ़वाली तीन राउण्ड फायर! (गढ़वाली, तीन-तीन गोली चलाओ)।"

गढ़वाली बहादुरोंकी राइफलें उठीं और निशानेपर आईं, पर तभी गूँजी यह आवाज़—"गढ़वाली, सीज़ फायर! (गढ़वाली, गोली मत चलाओ!)" यह कैप्टेन रिकैटके बाईं ओर खड़े क्वार्टर मास्टर हवलदार चन्द्रसिंहकी आवाज़ थी।

उन सिपाहियोंके सामने अब दो हुक्म थे—तीन राउण्ड फायर और सीज़ फायर! हिंसा और अहिंसाका यह एक ऐतिहासिक अन्तर्द्वन्द्व था। हिंसा पराजित हुई, अहिंसा विजयी। 'सीज फायर' का हुक्म पास हुआ और सिपाहियोंने अपनी-अपनी राइफिलें ज़मीनपर खड़ी कर दीं। भावना किस ऊँचे धरातलतक जा लगी थी, यह तब दिखाई दिया, जब एक सिपाहीने अपनी ५ राउण्ड भरी राइफिल पठानोंको सौंपते हुए दोनों हाथ उठाकर कहा—"लो, अब चाहो, तो तुम हमें मार डालो!"

कैप्टेन रिकैट अवाक्-भौंचक और आकाश भारत माताकी जय, महात्मा गाँधीकी जय, गढ़वाली पलटनकी जयसे भरा-गूँजा; जैसे आज उसमें पहली बार दिनमें फूल खिले हों!

जलती आँखोंसे रिकैटने हवलदारसे पूछा—"यह क्यों?"

गम्भीर कण्ठसे हवलदारने कहा—"ये लोग तो खाली हाथ खड़े

हैं, निहत्थोपर हम गोली कैसे चलाएँ ?"

हवलदार चन्द्रसिंहकी बातका अर्थ क्या हुआ ? यही कि जो दुश्मन है, वार करना चाहता है, मिटाना चाहता है, उसपर हम वार करें, उसे [illegible] सस्कार है, पर जो दुश्मन [illegible] और जिसके पास मारनेको [illegible] उठे, सिपाही उसे क्यों मारे ?

वही मेरे पानवाले भाईकी बात कि जो मुझसे बेईमानी करे, मैं उससे बेईमानी करूँ, पर जो मुझसे बेईमानी नहीं करता, मैं उससे बेईमानी करूँ—तब भी मेरा विश्वास करता है—उससे मैं बेईमानी कैसे करूँ ?

अब [illegible] ओर [illegible] र बाई ओर पान-वाला भाई। [illegible] ओर [illegible] हवलदार, तुम हो हिंसकका [illegible] और [illegible] विवेक। मैं तुम दो[illegible] नमस्कार [illegible]।

और [illegible] कौन हो भाई ?

यह [illegible] पास कौन आ खड़ा हुआ ?

"मैं [illegible]—भैरोंसिंह। मेरी भी [illegible] है।"

तो सुनाओ अपनी कहानी, मैंने कहा [illegible]—"दिल्ली-बम्बई लाइनपर [illegible] मैं चोरीका [illegible] करता हूँ। बड़ा शान-दार काम [illegible] कि 'इन्वेस्टमेंट' कुछ नहीं [illegible] 'डिविडेंड' भरपूर ! कभी-कभी [illegible] हाथ ऐसा पैड़ता है कि [illegible] खाओ, तो खतम न हो, पर [illegible] मेरे मनमें धर्मविरुद्ध है, [illegible] बहती रहती है—जैसे [illegible] जानता है !

तो [illegible] अपने कामकी [illegible] कि मैंने देखा कुछ लोगोंके [illegible] और खरीजसे भरा एक पूरा [illegible] रक्खा है। उन्होंने

उसमें एक किताब-सी रखी, तो मैंने भाँप लिया कि माल चकाचक है।

एक बूढ़ा उसकी देखरेख कर रहा था। वह उठकर जरा टट्टीमें गया और मैं उसे उठाकर दूसरे कम्पार्टमेण्टमें जा पहुँचा। मैंने सोचा कि हल्ला मचेगा, तो इसे झाड़ियोंमें फेंक दूँगा और अगले स्टेशनपर उतर जाऊँगा, पर कोई हल्ला नहीं मचा, तो समझ लिया कि बूढ़ा टट्टीसे आकर सो गया है। यों ही जरा ढक्कन उठाकर देखा, तो लक्ष्मीका धवल रूप आँख चौंधिया रहा था, पर यह किताब क्या है ? देखा, तो गोआ सत्याग्रहकी रसीद-बही थी। पूछकर जाना कि गोआमें लोग देशके लिए बलिदान होनेको जा रहे हैं और जनता हर स्टेशनपर दान देती है।

ओह, इस कनस्तरमें सत्याग्रहियोंको मिले दानका रुपया है और मैं इसे चुरा लाया ! एक बार मुझे ध्यान आया कि बहुत दिनसे ताजमहल होटलमें नूरजहाँके साथ तीन दिन गुच्च रहनेकी इच्छा थी, सो इस कनस्तरसे पूरी हो जायगी, पर दूसरे ही क्षण मेरी आत्माने कहा—कम्बख्त, जो लोग देशके लिए मिट रहे हैं, उन्हें कुछ देना चाहिए, या उनका माल हड़पना !

बस मैंने अपनी जेब देखी और उसमें जो बाइस रुपये थे, वे उस कनस्तरमें रख दिये। एक पर्चा लिखा कि भाइयो, मैंने आपका कनस्तर चुरा लिया था, पर रसीद वहीसे आपके बलिदानकी बात जानकर जेबके २२ रुपये इसमें रख, इसे आपके पास भेज रहा हूँ। ईश्वर आपको सफल करे और एक आदमीके हाथों कनस्तर सत्याग्रहियोंके डब्बेमें भिजवा दिया।

कहानी सुनकर मैंने कहा—ठीक है, यह चोरका विवेक है, तो सार यह कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें हो, विवेकको कभी हाथसे न जाने दे, क्योंकि मनुष्यके जीवनमें विवेक ही मार्गदर्शक प्रदीप है। और यह भी कि मनुष्य लाख बुरा बन जाये, पर कभी बुरा नहीं होता !

इससे मिलती-जुलती परिस्थितियोंमें महापुरुष कमालपाशाने अपनी प्रिय पत्नीको तलाक दिया या नहीं ? उसकी परित्यक्ता पत्नी जब महलसे बिदा हुई तो कमाल उसे जाते हुए देख भी न सका—रुमाल आँखोंपर रक्खे, अपने झरोखेके नीचे वह बैठा ही रह गया।

फिर राम और सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए अलग-अलग रहकर समाजका अन्याय सहा और विण्डसरने देशकी रक्षाके लिए अपनी पत्नीके साथ अपने घरसे अलग रह कर समाजका अन्याय सहा। विण्डसर सम्राट् एडवर्डके रूपमें यदि पार्लमेंटको भंगकर उस समय सम्राट् बना रहता और इंग्लैंडकी शक्तियोंको इस झमेलेमें उलझा, राजनीतिज्ञोंमें बुद्धि-भेद पैदा कर देता, तो महायुद्धमें इंगलैंडकी वही दशा होती, जो कि फ्रांसकी हुई।

एडवर्डने विण्डसर बनकर इंगलैंडको बचा लिया; एकदम उसी तरह जैसे रामने सीताको त्याग करके भारतको बचा लिया था। रामने इस एक ही झटकेमें अपने महापुरुषको देवत्व दे दिया और सारे विद्रोहोंकी भावनापर तेज़ाब छिड़क दिया !

इस प्रकार स्पष्ट है कि सीताने समाज-व्यवस्थाकी रक्षाके लिए समाजकी मर्यादाओंका पालन किया। यह जानकर भी कि रामका दिया दण्ड अन्याय पूर्ण है, नारी पर पुरुषका राक्षसी अत्याचार है, उसने रामके विरुद्ध विद्रोह नहीं किया। सीताने रामके दण्डकी ओर नहीं देखा, रामके उद्देश्यकी ओर ही आँखें रक्खीं। मनके प्यालेमें असन्तोषका जो विष घुला, उसे वह भगवान्‌का चरणामृत मानकर पी गई। एक विशिष्ट उद्देश्यके लिए पतिके साथ पत्नीकी लीनताका विश्वके साहित्यमें सीता सर्वोत्तम उदाहरण है।

राम हमारी सभ्यताके पाणिनि थे। पाणिनिने संस्कृत भाषाको